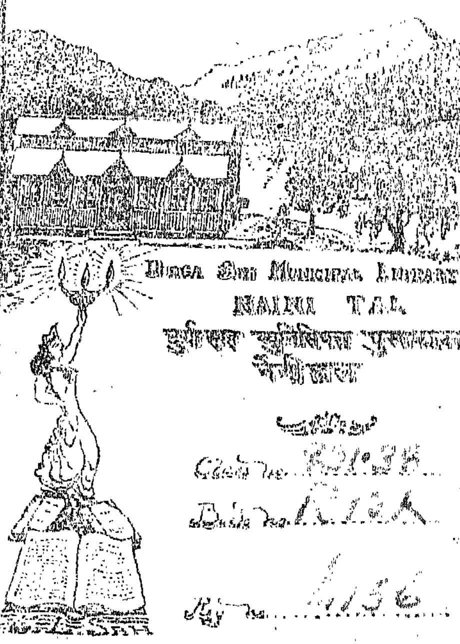


रवीन्द्र-कथा-माला ३

काबुली वाला

(मूल-बँगला से अनूदित रवीन्द्र की कहानियों का संकलन)

लेखक :

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रभात प्रकाशन, मथुरा

प्रकाशक :
प्रभात प्रकाशन,
मथुरा ।

अनुवादक :
राजेश दीक्षित

प्रथम संस्करण
१९५८ ई०

मूल्य :
दो रुपया

मुद्रक :
जवाहर प्रिन्टिंग प्रेस,
मथुरा ।

दो शब्द

★

"रविबाबू का काव्य चाहे चिरजीवी, न रहे, परन्तु उनकी कहानियाँ निश्चित रूप से उन्हें अमर कीर्ति प्रदान करेंगी"—एक प्रसिद्ध अंग्रेज-समालोचक के इस कथन में रंचमात्र अतिशयोक्ति नहीं है।

रविबाबू कवि के रूप में विश्व-प्रसिद्ध हुए, उपन्यासकार के रूप में भी उन्होंने यथेष्ट ख्याति अर्जित की, परन्तु वास्तविकता यह है कि कहानीकार के रूप में उन्होंने जो सफलता प्राप्त की है; वह सबसे बढ़ कर, अत्यन्त अद्भुत है। कला-शिल्प, गठन-कौशल, शब्द-सौन्दर्य, भाव-पटुता, अभिव्यक्ति की सरसता तथा सूक्ष्म-तात्त्विकता-सभी दृष्टियों से रविबाबू की कहानियाँ अनुपम एवं महत्त्वपूर्ण हैं। रवीन्द्र की कहानियाँ जिसने नहीं पढ़ीं, कथा-साहित्य में उसने सचमुच ही कुछ नहीं पढ़ा है।

प्रस्तुत संग्रह में रविबाबू की बारह सुप्रसिद्ध कहानियाँ हैं। सभी का अनुवाद मूल-बँगला से अक्षरशः किया गया है। मूलभावों एवं शिल्प-सौन्दर्य की रक्षा के लिए संस्कृत-निष्ठा को नहीं त्यागा जा सका, परन्तु इससे अनुवाद की श्रीवृद्धि ही हुई है, इसे पढ़ कर जाना जा सकेगा।

मथुरा-प्रवास
दीपावली सं० २०१४ वि०

राजेश दीक्षित

कथा-सूची

★

काबुली वाला

(काबुल वाला)

मेरी पाँच वर्ष की छोटी बच्ची मिनी एक क्षण के लिए भी बात किए बिना नहीं रह सकती। पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करने के पश्चात् उसने भाषा सीखने में केवल एक वर्ष का ही समय व्यतीत किया था। उस समय के उपरान्त वह जब तक जागती रहती है, तब तक एक क्षण का समय भी मौन रहने में नष्ट नहीं करती। उसकी माता अनेकों बार धमकी देकर उसका मुँह बन्द कर देती है, परन्तु मुझसे ऐसा नहीं हो पाता। मिनी का मौन रहना ऐसा अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि वह मुझ से अधिक समय तक सहन नहीं होता। इसीलिए मेरे साथ उसका वार्त्तालाप कुछ अधिक उत्साहपूर्वक चलता रहता है।

प्रातःकाल के समय मैंने उपन्यास के सत्रहवें परिच्छेद में हाथ लगाया ही था कि उसी समय मिनी ने आते ही आरम्भ कर दिया— "बाबूजी! रामदयाल दरबान काक* को कौआ बोलता है। वह कुछ नहीं जानता न ?"

मैं पृथ्वी भर की भाषाओं की विभिन्नता के सम्बन्ध में उसे कुछ ज्ञान-प्रदान करने में प्रवृत्त होऊँ, इसके पूर्व ही उसने दूसरा प्रसंग आरम्भ कर दिया—"देखो बाबूजी! भोला कहता था कि आकाश में हाथी अपनी

---

*बँगला में कौआ को 'काक' कहा जाता है अतः बंगाली लड़की मिनी की सम्मति में दरबान का उच्चारण गलत था।

सूँड़ से जल फेंक देता है, उसी से वर्षा होती है । अरी माँ, भोला झूठ-मूठ बकता रहता है । केवल बका ही करता है, दिन रात बकता है ।"

इस सम्बन्ध में मेरी सम्मति की किंचिन्मात्र भी प्रतीक्षा किये बिना वह हठपूर्वक जिज्ञासा कर बैठी—"बाबूजी ! माँ तुम्हारी कौन होती हैं ?"

मैंने मन ही मन कहा—'साली'; फिर मुँह से बोला—"मिनी ! तू भोला के साथ खेल, जा । मुझे इस समय काम है ।"

उस समय उसने मेरी लिखने की मेज के पार्श्व में, मेरे पाँवों के समीप बैठ कर, अपने दोनों घुटने और हाथों को हिलाते हुए, बहुत तेजी से 'अटकन-बटकन' उच्चारण करते हुए खेलना आरम्भ कर दिया । उस समय मेरे सत्रहवें परिच्छेद में प्रतापसिंह कंचनमाला को लेकर अँधेरी रात में बन्दीगृह की ऊँची खिड़की से निकल कर नीचे बहने वाली नदी के जल में कूद रहे थे ।

मेरा घर सड़क के किनारे है । अचानक ही मिनी 'अटकन-बटकन' खेल छोड़ कर, खिड़की के पास जा पहुँची और चिल्लाती हुई पुकारने लगी—"काबुली वाला, ओ काबुली वाला ।"

मैले-ढीले कपड़े पहने, मस्तक पर पगड़ी बाँधे, टोकरी रक्खे, हाथ में दो-चार अँगूरों की पिटारी लिये, एक लम्बा काबुल वाला धीमी-धीमी चाल से मार्ग पर चला जा रहा था—उसी को देखकर मेरी कन्या-रत्न में किस प्रकार का भावोदय हुआ, इसे बताना कठिन है । उसने उच्च स्वर से पुकारना आरम्भ कर दिया । मैंने सोचा "इसी समय झोली डाले एक विपत्ति आ उपस्थित होगी । मेरा सत्रहवाँ परिच्छेद अब समाप्त नहीं होगा। "

परन्तु, मिनी की चीत्कार पर जैसे ही काबुल वाले ने हँस कर मुँह फिराया एवं मेरे मकान की ओर आने लगा, उसी समय वह लम्बी श्वास खींचती हुई घर के भीतर भाग गई, फिर उसका कोई चिह्न दिखाई

नहीं दिया। उसके हृदय में एक अन्ध-विश्वास सा बैठ गया था कि उसकी झोली के भीतर ढूंढ़ने पर, उस जैसी दो-चार जीवित मानव-सन्तानें प्राप्त हो सकती हैं।

इधर काबुल वाला आकर, मुस्काता हुआ, मुझे सलाम करके खड़ा हो गया। मैंने सोचा—"यद्यपि प्रतापसिंह एवं कंचनमाला की अवस्था अत्यन्त संकटापन्न है, फिर भी इस व्यक्ति को घर बुलाकर, उससे कुछ भी न खरीदना ठीक नहीं रहेगा।"

कुछ खरीद की गई। उसके पश्चात् इधर-उधर की बातें आरम्भ हो गईं। अबदर रहमान, रूस, अंग्रेज से लेकर सीमान्त रक्षा नीति के सम्बन्ध में गप्पें चलने लगीं।

अन्त में, उठकर जाते समय उसने पूछा—"बाबूजी! आपकी पुत्री कहाँ गई?"

मैंने मिनी के निरर्थक भय को दूर कर देने के अभिप्राय से, उसे अन्तःपुर से पुकार कर बुलवा लिया। वह मुझसे बिल्कुल चिपटी हुई, काबुली के मुख एवं झोली की ओर संदिग्ध दृष्टिपात करती हुई खड़ी रही। काबुली ने झोली से किशमिस तथा खूबानी निकाल कर उसे देना चाहा, परन्तु उसने कुछ नहीं लिया। वह दुगने संदेहपूर्वक मेरे घुटनों से चिपटी खड़ी रही। प्रथम-परिचय इस प्रकार हुआ।

कुछ दिन पश्चात् एक दिन सबेरे के समय, आवश्यक कार्यवश मकान से बाहर निकलते हुए मैंने देखा—मेरी पुत्री द्वार के समीपस्थ बेंच के ऊपर बैठी हुई अनर्गल बातें कहती जा रही है और काबुल वाला उसके पाँवों के समीप बैठा हुआ, मुख पर मुस्कुराहट लिए उन्हें सुन रहा है एवं बीच-बीच में वह प्रसंगानुसार अपने मतामत को खिचड़ी-बंगला भाषा में व्यक्त करता जाता है। मिनी को अपने पंचवर्षीय जीवन की जानकारी में बाबा को छोड़ कर, इस प्रकार का धैर्यवान श्रोता कहीं नहीं मिला था। यह भी देखा कि उसका छोटा-सा आँचल बादाम और

किशमिस से भरा हुआ था। मैंने काबुल वाले से कहा—"इसे यह सब क्यों दिया है ? अब और मत देना।" यह कह कर मैंने जेब में से एक अठन्नी निकाल कर उसे दे दी। उसने बिना किसी संकोच के अठन्नी लेकर झोली में डाल ली।

घर लौट आने पर देखा कि उसी अठन्नी को लेकर सोलहों-आने उपद्रव खड़ा हो गया है।

मिनी की माँ एक श्वेत चमकीला पदार्थ हाथ में लिए हुए, भर्त्सना के स्वर में मिनी से पूछ रही थी—"तूने यह अठन्नी कहाँ से पाई ?"

मिनी कह रही थी—"काबुल वाले ने दी है।"

उसकी माँ फिर बोली—"तूने काबुल वाले से अठन्नी कैसे ली ?"

मिनी ने रोने का उपक्रम करते हुए कहा—"मैंने माँगी नहीं थी, उसने स्वयं दी है।"

मैंने आकर मिनी का उस आसन्न विपत्ति से उद्धार किया और उसे बाहर ले गया।

समाचार मिला कि काबुल वाले के साथ मिनी का यह दूसरा साक्षात्कार हुआ हो, सो बात नहीं है। इस बीच उसने प्रायः प्रतिदिन आकर पिस्ता-बादाम की घूँस देकर, मिनी के क्षुद्र-लुब्ध हृदय पर अनेक अधिकार प्राप्त कर लिये हैं।

देखा, इन दोनों मित्रों के बीच कुछ निश्चित बातें एवं हँसी प्रचलित है। जैसे, रहमत को देखते ही मेरी कन्या हँसते-हँसते पूछती—"काबुल वाला, ओ काबुल वाला ! तुम्हारी झोली के भीतर क्या है ?"

रहमत एक अनावश्यक चन्द्रबिन्दु जोड़ कर हँसता-हँसता उत्तर देता—'हाँथी।'

अर्थात् उसकी झोली के भीतर जो एक हाथी है, वही उसके परिहास का सूक्ष्म मर्म है। उसके परिहास का मर्म अत्यन्त सूक्ष्म हो—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; तो भी इस परिहास में दोनों ही एक

विशेष कौतुक अनुभव करते—और शरद् ऋतु के प्रभात में एक वयस्क तथा एक अवयस्क शिशु के सरल हास्य को देख कर मुझे भी अच्छा लगा करता ।

उनके बीच में एक और बात भी प्रचलित थी । रहमत मिनी से कहता—"बच्ची ! तुम ससुराल कभी मत जाना ।"

बँगाली घरों की लड़कियाँ जन्मकाल से ही 'ससुराल' शब्द से परिचित हो जाती हैं, परन्तु हम लोग कुछ नये युग के होने के कारण शिशु-बच्ची को ससुराल के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त नहीं करा सके थे । इसीलिए रहमत के अनुरोध को वह ठीक-ठीक नहीं समझ पाती थी । परन्तु किसी भी बात का उत्तर न देकर मौन रह जाना उसके स्वभाव के सर्वथा विपरीत था -अस्तु, वह उल्टे रहमत से ही पूछती—"तुम ससुराल जाओगे ?"

रहमत काल्पनिक श्वसुर के प्रति जवर्दस्त मोटा घूँसा तान कर कहता—"मैं ससुर को मारूँगा ।"

सुनकर मिनी श्वसुर-नामक किसी एक अपरिचित प्राणी की दुर्दशा की कल्पना करके अत्यन्त हंसती थी ।

इस प्रकार शुभ्र शरद् ऋतु आ पहुँची । प्राचीन काल में इसी समय राजा लोग दिग्विजय करने बाहर निकलते थे । मैं कलकत्ता छोड़ कर कभी कहीं भी नहीं जाता, परन्तु, इसीलिए मेरा मन सम्पूर्ण पृथ्वी पर घूमा करता है । मैं जैसे अपने घर के कोने का चिर-प्रवासी हूँ, बाहरी पृथ्वी के लिए मेरा मन सदैव चंचल बना रहता है । किसी विदेश का नाम सुनते ही मेरा हृदय दौड़ने लगता है, इसी प्रकार विदेशी व्यक्ति को देखते ही मन में नदी-पर्वत-वन के मध्य में एक कुटीर का दृश्य उदय हो जाता है तथा एक उल्लासपूर्ण स्वाधीन जीवन-यात्रा की बात कल्पना में जाग उठती है ।

इस ओर मैं ऐसी स्थावर-प्रकृति का हूँ कि अपने कोने को छोड़ कर एक बार बाहर निकलने में मस्तक पर बज्राघात हो उठता है ।

इसीलिए प्रभात काल में अपने छोटे से घर में, मेज के सामने बैठकर, इस काबुली के साथ गप्पें करते हुए, मेरे भ्रमण सम्बन्धी अनेक कार्य पूरे हो जाते हैं। दोनों ओर दुर्गम रक्तवर्ण उच्च गिरि श्रेणियाँ, मध्य में संकीर्ण मरु-पथ, बोझ से लदी, आगे बढ़ती हुई ऊँटों की पंक्तियाँ, पगड़ी बाँधे हुए बणिक (सौदागर) और पथिक—जिनमें कोई ऊँट पर बैठा है और कोई पैदल चल रहा है, किसी के हाथ में माला और किसी के हाथ में अत्यन्त पुरानी बन्दूक है—काबुली मेघ-गर्जन के समान स्वर से टूटी-फूटी बँगला भाषा में अपने देश काबुल की बातें करता और यह दृश्य मेरे नेत्रों के सम्मुख चलता चला जाता।

मिनी की माँ अत्यन्त शंकालु स्वभाव की है। मार्ग में एक भी शब्द सुनकर उसके मन को ऐसा लगता है कि पृथ्वी के समस्त मद्यपी हमारे ही मकान को विशेष लक्ष करके चले आ रहे हैं। यह पृथ्वी सर्वत्र चोर, डकत, मद्यपी, सर्प, बाघ, मलेरिया, सूँआ, चिलचट्टे एवं गोरों द्वारा परिपूर्ण है—यह विभीषिका इतने दिनों से (बहुत अधिक दिनों से नहीं) पृथ्वी पर वास करते हुए भी उसके मन से दूर नहीं होती।

रहमत काबुल वाले के सम्बन्ध में वह पूर्ण रूपेण सन्देह-रहित नहीं थी। उसके प्रति विशेष दृष्टि रखने के सम्बन्ध में उसने मुझसे बारम्बार अनुरोध किया था। मैंने उसके सन्देह को हँसी में उड़ा देने की चेष्टा की तो उसने दुहराते हुए मुझ से एक साथ अनेक प्रश्न किये—"क्या कभी किसी का बच्चा चोरी नहीं गया? क्या काबुल देश में गुलामों का व्यवसाय प्रचलित नहीं है? एक मोटे-ताजे काबुली द्वारा एक छोटे बच्चे को चुराकर ले जाना क्या बिल्कुल ही असम्भव है?"

मुझे मानना पड़ता कि यह बात असंभव हो सके सो तो नहीं, परन्तु विश्वास-योग्य भी नहीं है। विश्वास करने की शक्ति सब में एक जैसी नहीं होती, इसीलिए मेरी स्त्री के मन में भय बना रहा। परन्तु मैं इस कारण बिना किसी दोष के रहमत को अपने मकान में आने से मना नहीं कर सका।

प्रति वर्ष माघ मास के लगभग रहमत देश चला जाता है। इस समय वह समस्त ऋण दाताओं से अपना पैसा वसूल करने में अत्यन्त व्यस्त रहता है। वह घर-घर घूमता, परन्तु फिर भी मिनी को एक बार दर्शन अवश्य दे जाता। देखने से ठीक ऐसा ज्ञात होता था कि उन दोनों के बीच में एक षडयन्त्र चल रहा है। जिस दिन प्रातःकाल वह नहीं आ पाता, उस दिन देखा जाता कि वह सायंकाल को आया है। अन्धकार में, घर के कोने में, उस ढीले ढाले जामा-पायजामा पहने हुए झोला-झोली वाले लम्बे व्यक्ति को देख कर वास्तव में हठात् ही मन के भीतर एक आशंका उपस्थित हो जाती। परन्तु जब यह दिखाई देता कि मिनी 'काबुली वाला, ओ काबुली वाला' पुकारती हुई हँसते-हँसते दौड़ी आती एवं दोनों असम-आयु वाले मित्रों के बीच पुराना सरल-परिहास चलने लगता, उस समय मेरा समस्त हृदय प्रसन्न हो उठता।

एक दिन प्रातःकाल मैं अपने छोटे कमरे में बैठा हुआ प्रूफ-शीट का संसोधन कर रहा था। विदा होने से पूर्व, आज दो-तीन दिन से जाड़ा बड़ी जोर से पड़ रहा था। चारों ओर एक बार हाहाकार मच गया था। जंगले में होकर जब प्रातःकाल की धूप मेज के नीचे, मेरे पाँवों के ऊपर आकर पड़ी, तब उसका उत्ताप मुझे बहुत मीठा प्रतीत होने लगा। उस समय आठ बज रहे होंगे—मस्तक से गुलूबन्द लपेटे हुए जाड़े के प्रायः सभी उषा-चर-गण प्रातः भ्रमण समाप्त कर, घर लौट रहे थे। इसी समय मार्ग में एक भारी हो-हल्ला सुना गया।

देखा, हमारे रहमत को दो पहरे वाले सिपाही बाँध कर लिये आ रहे हैं—उसके पीछे कुतूहली बालकों का दल चल रहा था। रहमत के शरीर का वस्त्र रक्त-रंजित था और एक पहरे वाले के हाथ में रक्त से सना हुआ छुरा था। मैंने दरवाजे से बाहर निकल कर पहरेवाले को रोका और उससे पूछा—"क्या बात है ?"

कुछ उस पहरेवाले के द्वारा और कुछ रहमत द्वारा यह विदित हुआ कि हमारे एक पड़ोसी ने रहमत से रामपुरी चादर खरीदते

समय कुछ मूल्य उधार कर दिया था—अब उसने झूठ बोलकर देना अस्वीकार कर दिया। इसी कारण बात इतनी बढ़ गई कि रहमत ने उसके एक छुरा भोंक दिया।

रहमत उस बेईमान आदमी को अनेक प्रकार की अश्रव्य (न सुनने योग्य) गालियाँ दे रहा था। इसी समय "काबुली वाला, ओ काबुली वाला" करके पुकारती हुई मिनी घर से बाहर निकल आई।

रहमत का मुख क्षण भर में ही कौतुक-हास्य से प्रफुल्ल हो उठा। आज उसके कन्धे पर झोली नहीं थी अस्तु झोली के सम्बन्ध में उन दोनों की अपस्त-आलोचना नहीं हो सकी। मिनी ने आते ही उससे पूछा —"तुम ससुराल जाओगे ?"

रहमत ने हँसते हुए कहा—"वहीं जारहा हूँ।"

जब उसने देखा कि उत्तर मिनी को हास्य-जनक नहीं हो सका है, तब उसने अपने हाथ दिखाते हुए कहा—"ससुर को मारता, परन्तु क्या करूँ—हाथ बँधे हुए हैं।"

साँघातिक आघात करने के अपराध में रहमत को कई वर्ष का कारावास दण्ड मिला।

उसकी कहानी (खयाल) एक प्रकार से भूल गई। जिस समय हम लोग घर में बैठे रहकर सदैव के अभ्यासानुसार नित्य-कर्मों को करते हुए दिन पर दिन व्यतीत कर रहे थे, उस समय एक स्वाधीन पर्वत-चारी पुरुष बन्दीगृह की दीवारों के भीतर किस प्रकार वर्षों का समय व्यतीत कर रहा होगा यह बात हमारे मन में भी कभी उदय नहीं हुई।

और चंचल-हृदया मिनी का आचरण अत्यन्त शर्मीला हो गया था यह बात उसके बाप को भी स्वीकार करनी पड़ेगी। उसने सहज ही अपने पुराने मित्र को भुला कर पहले तो नबी नामक सईस से मित्रभाव स्थापित किया; फिर क्रमशः ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती गई त्यों-त्यों

सखाओं के बदले एक-एक करके उसकी सखियाँ इकट्ठी होने लगीं। यही क्यों, अब उसे अपने बाबा के लिखने के कमरे में भी नहीं देखा जा सकता था। मेरा तो एक प्रकार से उसके साथ सम्बन्ध ही टूट गया।

कितने ही वर्ष बीत गये। एक और शरद् ऋतु आ गई। मेरी मिनी का विवाह-सम्बन्ध स्थिर हो गया। पूजा की छुट्टियों में उसका विवाह होगा। कैलाश-वासिनी के साथ-साथ हमारे घर की आनन्दमयी मिनी भी पितृ-गृह में अन्धकार कर, पति-गृह की यात्रा करेगी।

प्रभात-काल अत्यन्त सुन्दरता लिए प्रगट हुआ। वर्षा के पश्चात् शरद्काल की यह नवीन-धुली हुई धूप मानो सुहागे में गले हुए स्वर्ण के समान रंग धारण किये हुए है। यही क्यों, कलकत्ता की गलियों के भीतर भी ईंट-जर्जर, पुराने, परस्पर सटे हुए मकानों के ऊपर भी इस धूप की आभा एक अपूर्व लावण्य का विस्तार कर रही है।

हमारे घर में आज रात्रि व्यतीत होने से पूर्व ही शहनाई बज रही है। वह वंशी जैसे मेरे कलेजे की हड्डियों के बीच रो-रो कर बज उठती है। करुण भैरव रागिनी मेरी आसन्न-विच्छेद-व्यथा को शरद्ऋतु की धूप के साथ सम्पूर्ण-विश्व में व्याप्त किये दे रही है। आज मेरी मिनी का विवाह है।

प्रातःकाल से ही भारी गोलमाल, लोगों का आना-जाना लगा है। आँगन में बाँस बाँध कर मण्डप छाया जा रहा है। मकान के प्रत्येक कमरे एवं बरामदे में झाड़ टाँगने का टूँ-टाँ शब्द उठ रहा है; चीख-पुकार की तो कोई सीमा ही नहीं है।

मैं अपने लिखने के कमरे में बैठा हुआ हिसाब देख रहा था। उसी समय रहमत आया और सलाम करके खड़ा हो गया।

पहले मैं उसे पहिचान न सका। उसके पास वह झोली नहीं थी, उसके वे लम्बे बाल नहीं थे, उसके शरीर में पहले के समान वह तेज नहीं था। अन्त में, उसकी हँसी देखकर मैं उसे पहिचान सका।

कहा—"क्यों रे रहमत, कब आया?"

वह बोला—"कल शाम को जेल से छुट्टी पाई है ।"

यह शब्द, सुनते ही कानों में खट्-से बज उठे । मैंने किसी खूनी को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा था । उसे देख कर सम्पूर्ण अन्त:करण संकुचित हो गया । मैं इच्छा कर उठा—आज के इस शुभ दिन में यह व्यक्ति यहाँ से चला जाय, यही भला है ।

मैंने उससे कहा—"आज हमारे मकान में एक कार्य है, मैं कुछ व्यस्त हूँ, तुम आज जाओ ।"

बात सुनते ही वह उसी क्षण चले जाने को उद्यत हुआ । अन्त में दरवाजे के समीप पहुँच कर, कुछ इधर-उधर करके बोला—"बच्ची को एक बार देख नहीं पाऊँगा ?"

उसके मन में पूर्ण विश्वास था कि मिनी उसी प्रकार की है । उसने मन में सोच रक्खा था, मिनी अब भी पूर्व की भाँति "काबुली वाला, ओ काबुली वाला" कहती हुई दौड़ी चली आवेगी । उनके अत्यन्त कौतुकपूर्ण पुरातन-हास्यालाप में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होगी । यही क्यों, पुरानी मित्रता का स्मरण कर वह एक पिटारी में अँगूर और कागज के थैले में थोड़े से किशमिस, बादाम रख कर संभवत: अपने देश के किसी व्यक्ति से माँग-जाँच कर साथ लेता आया था—उसकी अपनी झोली उसके पास नहीं थी ।

मैंने कहा—"आज घर में काम है, आज अन्य किसी से भी मुलाकात नहीं हो सकेगी ।"

वह कुछ खिन्न-सा हो गया । स्तब्ध-भाव से खड़े होकर, उसने एक बार स्थिर दृष्टि से मेरे मुँह की ओर देखा, तदुपरान्त "बाबू सलाम" कह कर दरवाजे के बाहर हो गया ।

मेरे मन में एक प्रकार की वेदना-सी हो उठी । मन में सोचा—उसे बुला कर लौटा लूँ, तभी देखा कि वह स्वयं ही लौट कर आ रहा है ।

समीप आकर बोला—"यह अंगूर और थोड़े से किशमिस-बादाम बच्ची के लिए लाया था, उसे दे दीजिएगा।"

मैं उन वस्तुओं को लेकर मूल्य देने को उद्यत हुआ, तभी उसने अचानक मेरा हाथ पकड़ लिया; कहा—"आपकी बड़ी कृपा है, वह मुझे चिर-काल स्मरण रहेगी—मुझे पैसा मत दीजिये। बाबू! जैसी आपकी एक बच्ची है, वैसी ही देश में मेरी भी एक लड़की है। मैं उसी के मुख का स्मरण कर, अपनी बच्ची के लिए थोड़ी बहुत मेवा हाथ में ले आता रहा हूँ। मैं यहाँ व्यापार करने नहीं आता।"

यह कह कर, उसने अपने ढीले कुर्त्ते के भीतर हाथ डाल कर, छाती के पास कहीं से एक टुकड़ा मैले कागज का बाहर निकाला। बड़े यत्न पूर्वक तह को खोल कर, उसने दोनों हाथों से उसे मेरी मेज के ऊपर रख दिया।

देखा, कागज के ऊपर एक छोटे से हाथ की छाप है। फोटोग्राफ नहीं, तैल-चित्र नहीं, हाथ के ऊपर थोड़ी-सी कालिख लगा कर, कागज के ऊपर उसी की छाप ले ली गई थी। कन्या के इस स्मरण-चिह्न को अपनी छाती के पास रख कर रहमत प्रति वर्ष कलकत्ते की सड़कों पर मेवा बेचने आता था—और मानो वह सुकोमल क्षुद्र शिशु के हाथ की छाप का टुकड़ा अपने स्पर्श द्वारा उसके विराट्-विरही-वक्षस्थल में अमृत का संचार करता रहता था।

देखकर मेरी आँखें डबडबा आईं। उस समय मैं यह भूल गया कि वह व्यक्ति एक काबुली मेवा वाला है और मैं एक संभ्रात कुलीन बँगाली व्यक्ति हूँ— उस समय यह अनुभव हुआ कि जो वह है, वही मैं हूँ; वह भी पिता है, मैं भी पिता हूँ। उसकी पर्वत-गृह-वासिनी क्षुद्र पार्वती के उस हस्त-चिह्न ने मेरी ही मिनी का स्मरण करा दिया। मैंने उसी समय उसे अन्तःपुर से पुकार कर बुला लिया। इस सम्बन्ध में अन्तःपुर में अनेक आपत्तियाँ उठाई गईं। परन्तु, मैंने जैसे किसी पर

भी कान नहीं दिया। विवाह की पोशाक पहने; मस्तक पर चन्दन लगाये, वधू-वेशिनी मिनी सलज्ज-भाव से मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

उसे देखकर काबुली वाला पहले तो सकपका-सा गया; उससे पहले के समान बात करते नहीं बना। अन्त में, हँस कर कहने लगा—"बच्ची ! तुम ससुराल जा रही हो ?"

मिनी अब ससुराल का अर्थ समझती है, अब वह पहले की भाँति उत्तर नहीं दे सकी—रहमत के प्रश्न को सुन, लज्जा से आरक्त हो, मुँह फेर कर खड़ी रही। काबुली वाला के साथ मिनी का जिस दिन प्रथम साक्षात्कार हुआ था, वह दिन मुझे याद हो आया। मन एक प्रकार से व्यथित हो उठा।

मिनी के चले जाने पर रहमत एक गंभीर दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए पृथ्वी पर बैठ गया। सम्भवतः वह एक बात स्पष्ट समझ उठा था कि उसकी पुत्री भी इतने समय में इसी प्रकार बड़ी हो गई होगी, उसके साथ भी अब नई बात करनी पड़ेगी—उसे भी अब वह ठीक पहले जैसी नहीं पा सकेगा। इन आठ वर्षों में उसका क्या हुआ होगा, इसे कौन जाने ? प्रभात काल में शरदऋतु की स्निग्ध धूप की किरणों के बीच शहनाई बजने लगी, रहमत कलकत्ते की एक गली के भीतर बैठा हुआ अफगानिस्तान के एक मरु-पर्वत का दृश्य देखने लगा।

मैंने एक नोट लेकर उसे दिया और कहा—"रहमत, तुम अपने देश में अपनी पुत्री के पास लौट जाओ; तुम लोगों के मिलन-सुख में मेरी मिनी का कल्याण निहित है।"

इन रुपयों को दान करने के पश्चात् उत्सव-समारोह के दो-एक अंगों को कम कर देना पड़ा। जिस प्रकार मन में सोचा था उस प्रकार का विद्युत्-प्रकाश नहीं हो सका, अंग्रेजी बाजे भी नहीं आये, अन्तःपुर की स्त्रियाँ अत्यन्त असन्तोष प्रकट करने लगीं; परन्तु मंगल-आलोक से हमारा शुभ-उत्सव उज्ज्वल हो उठा था।

अनधिकार प्रवेश

★

एक दिन प्रातःकाल सड़क के किनारे खड़े हुए एक बालक ने एक अन्य बालक से एक दुस्साहसपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में होड़ (शर्त) लगाई। "ठाकुर वाड़ी (मन्दिर) के बगीचे से फूल तोड़ कर लाये जा सकते हैं या नहीं"—यही तर्क का विषय था। एक बालक ने कहा—"लाये जा सकते हैं," और दूसरा बालक बोला—"कभी संभव नहीं है।"

कार्य सुनने में सरल है परन्तु करने में सरल क्यों नहीं है, इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार पूर्वक कहना आवश्यक है।

परलोकवासी माधवचन्द्र तर्कवाचस्पति की विधवा स्त्री जयकाली देवी इस राधानाथजी के मन्दिर की अधिकारिणी हैं। अध्यापक महाशय तर्कवाचस्पति की उपाधि प्राप्त करने के उपरान्त अपनी पत्नी के निकट एक दिन के लिए भी उस उपाधि को प्रमाणित नहीं कर सके थे। किसी-किसी पण्डित की राय में उपाधि की सार्थकता घट गई थी, क्योंकि तर्क एवं वाक्य—सभी उनकी पत्नी के हिस्से में पड़े थे, उन्होंने स्वयं तो पति के रूप में ही उसका सम्पूर्ण फलभोग किया था।

सत्य की प्रेरणा से यह कहना ही पड़ेगा कि जयकाली अधिक बात नहीं करती थीं, परन्तु वे अनेक बार दो बातों में ही, यहाँ तक कि मौन रहकर भी, अत्यन्त प्रबल बातूनी का मुँह बन्द कर दिया करती थीं।

जयकाली विशाल, दृढ़ शरीर, लम्बी नाक एवं प्रखर बुद्धि सम्पन्न स्त्री थीं। उनके स्वामी के जीवन में ही देवोत्तर-सम्पत्ति के

नष्ट होने की नौबत आ पहुँची थी। बिधवा ने उसके सम्पूर्ण ऋण को अदा कर, सीमा-सरहद को स्थिर एवं बहुकालीन बेदखली का उद्धार कर सब का परिष्कार कर दिया था। उसके प्राप्त हो जाने पर, फिर उन्हें कोई भी एक कौड़ी से भी वंचित नहीं कर सका था।

इस स्त्री की प्रकृति में प्रचुर-परिमाण में पौरुष का अंश था, अत: उनका सच्चा साथी कोई भी नहीं था। स्त्रियाँ उनसे डरती थीं। पराई निन्दा, छोटी बातें अथवा 'अपना रोना' उन्हें असह्य था। पुरुष भी उनसे भयभीत रहते थे; कारण, ग्रामवासी सज्जन पुरुषों के चण्डी-मण्डप के प्रति महान आलस्य को, वे एक प्रकार के नीरव घृणापूर्ण तीक्ष्ण कटाक्ष द्वारा धिक्कारा करती थीं, जो उन लोगों की स्थूल जड़ता को भेद कर अन्तर तक प्रविष्ट हो जाता था।

प्रबल रूप से घृणा करने की एवं उस घृणा को प्रबल रूप से प्रकट करने की असाधारण क्षमता इस प्रौढ़ा बिधवा में विद्यमान थी। अपने विचार से वे जिसे अपराधी ठहरातीं, उसे बे बात, बिना-बात, भाव एवं भंगिमा द्वारा एक बार बिल्कुल दग्ध करती चली जा सकती थीं।

गाँव के सभी क्रिया-कर्मों एवं विपत्ति-सम्पत्ति में उनका आलस्य-हीन हाथ सम्बद्ध रहता था। वे सर्वत्र ही अपने लिए एक गौरवपूर्ण स्थान, बिना किसी चेष्टा के, अत्यन्त सरलता पूर्वक अधिकार में कर लेती थीं। जहां वे उपस्थित रहतीं, वहाँ वे सबके प्रधान पद पर होतीं, इस सम्बन्ध में उनके अपने अथवा उपस्थित किसी भी अन्य व्यक्ति के मन में कोई सन्देह नहीं रहता था।

रोगी की सेवा में वे सिद्धहस्त थीं, परन्तु रोगी उनसे यमराज के समान भय करते थे। पथ्य अथवा नियम का लेश मात्र भी उल्लंघन होने पर उनकी क्रोधाग्नि, रोग के ताप की अपेक्षा रोगी को अधिक उत्तप्त कर देती थी।

यह दीर्घाकार कठिन विधवा, विधाता के कठोर नियम-दण्ड की भाँति गाँव क मस्तक पर सदैव उद्यत रहती थी; कोई भी उससे स्नेह

अथवा उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकता था। गाँव के सब के साथ उनका सम्बन्ध था, परन्तु उनके मत में उन जैसा अत्यन्त एकाकी अन्य कोई नहीं था।

बिधवा निस्सन्तान थी। माता-पिता से हीन भाई के दो लड़के ही उनके घर के मनुष्य थे। कोई पुरुष-अभिभावक न होने से उनके ऊपर किसी प्रकार का शासन नहीं था। फिर भी स्नेहान्ध बुआ के लाड़-चाव के कारण वे बिगड़े जा रहे हैं—यह बात कोई नहीं कह सकता था। उनमें बड़े की आयु अठारह वर्ष की थी। बीच-बीच में उसके विवाह के प्रस्ताव भी आया करते थे एवं परिणय-बन्धन के सम्बन्ध में उस बालक का चित्त उदासीन भी नहीं था। परन्तु, बुआ ने उसकी इस सुख-वासना को एक दिन के लिए भी प्रश्रय नहीं दिया। अन्य स्त्रियों की भाँति किशोर नव-दम्पति का नव-प्रेमोद्गम-दृश्य उनकी कल्पना में अत्यन्त उपभोग्य और मनोरम प्रतीत नहीं होता था। अथवा "उनके भाई का लड़का विवाह करके अन्य भद्र गृहस्थों की भाँति आलसी बन कर घर में पड़ा रहे तथा पत्नी के स्नेह में प्रति दिन फूलता चला जाय"—यह कल्पना उनकी दृष्टि में अत्यन्त हेय थी। वे कठोर भाव से कहतीं—"पुलिन पहले उपार्जन (कमाई) करना आरम्भ करे, तदुपरांत बहू को घर ले आये।" बुआ के मुख के ऐसे कठोर वाक्यों से पड़ोसिनों के हृदय विदीर्ण हो जाते थे।

मन्दिर ही जयकाली का सबसे बड़ा धन था। ठाकुरजी के शयन, वस्त्र, स्नान तथा आहार में तिलमात्र भी त्रुटि नहीं हो पाती थी। पुजारी ब्राह्मण दो देवताओं की अपेक्षा इस एक मानवी से विशेष भय खाता था। पहले एक समय था, जब देवता का प्राप्य-नैवेद्य आदि देवता को पूरा नहीं मिल पाता था। कारण, पुजारी ब्राह्मण की एक पूजा की प्रतिमा गुप्त मन्दिर में थी; उसका नाम था—निस्तारिणी। गुप्तरूप से घृत, दुग्ध, छैना, मैदा तथा नैवेद्य स्वर्ग-नर्क में बट जाया करता था। परन्तु आजकल जयकाली के शासन में पूजा का सोलहों

आना अंश ठाकुरजी के भोग में ही आता है, उप-देवताओं को अन्यत्र जीविका के लिए, अन्य उपायों का अन्वेषण करना पड़ता है।

बिधवा के प्रयत्न से मन्दिर का आँगन साफ-सुथरा चमचमाता रहता है—कहीं एक तिनका भी नहीं मिलता। एक कोने में मंच का सहारा लेकर माधवीलता उठ रही है, उसके सूखे पत्ते नीचे गिरते ही जयकाली उन्हें उठाकर बाहर फेंक देती हैं। मन्दिर की सजावट, सफ़ाई एवं पवित्रा में किंचिन्मात्र व्याघात होते ही, बिधवा उसे सहन नहीं कर पाती। पहले मुहल्ले के लड़के लुकछिपकर खेलने के लिए इसके आँगन में आकर आश्रय ग्रहण करते थे एवं बीच-बीच में मुहल्ले की बकरियों के बच्चे आकर माधवीलता के पत्तों का कुछ-कुछ अंश खा जाया करते थे। अब वह सुयोग नहीं रहा। पर्वकाल (उत्सव के दिनों) को छोड़ कर, अन्य किसी दिन लड़के आँगन में प्रवेश नहीं कर पाते एवं क्षुधातुर बकरी के बच्चे दण्डाघात खाकर द्वार के समीप से ही उच्च-स्वर से अपनी अज-जननी (बकरी माता) को पुकारते हुए लौट जाते हैं।

अनाचारी व्यक्ति, परम-आत्मीय होते हुए भी देवालय के आँगन में प्रवेश नहीं कर पाता। एक बार यवन के हाथों द्वारा पकाये गये मुर्गे के मांस को खाने वाले बहनोई ने आत्मीयता प्रदर्शित करने के हेतु गाँव में आकर मन्दिर के आँगन में प्रवेश करने का उपक्रम किया था, परन्तु जयकाली ने उस पर तुरन्त और तीव्र आपत्ति प्रकट की थी, जिसके कारण सहोदरा बहिन सहित उनसे विच्छेद की सम्भावना घट गई थी। इस देवालय के सम्बन्ध में विधवा की ऐसी अतिरिक्त अनावश्यक सतर्कता थी कि जन-साधारण को वह निरा पाखण्ड ही प्रतीत होता था।

जयकाली और सब स्थानों पर कठिन, उन्नत और स्वतन्त्र थीं, केवल इस मन्दिर के सम्मुख ही उन्होंने परिपूर्ण भाव से आत्म-समर्पण कर रक्खा था। इस प्रतिमा के समीप वे एकान्त रूप से जननी, पत्नी

और दासी थीं; इसी के लिए वे सतर्क, सुकोमल, सुन्दर एवं पूर्णतः विनम्र थीं। यह पत्थर का मन्दिर एवं पत्थर की प्रतिमा उनके निगूढ़ नारी-स्वभाव के एकमात्र चरितार्थता के विषय थे। यही उनके स्वामी, पुत्र एवं सम्पूर्ण विश्व के समान थे।

इससे पाठक समझ जायेंगे कि जिस बालक ने मन्दिर के प्रांगरण में पहुँच कर माधवीलता के फूल तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी, उसके साहस की कोई सीमा नहीं थी। वह जयकाली के भाई का छोटा लड़का नलिन था। वह अपनी बुआ को भली भांति जानता था फिर भी उसकी दुर्दान्त प्रकृति (उग्र-स्वभाव) शासन के वशीभूत नहीं होती थी। जहाँ विपत्ति होती, वहीं उसके लिए एक आकर्षरण होता एवं जहाँ शासन होता, वहीं उल्लंघन करने के लिए उसका चित्त चंचल हो उठता था। जनश्रुति है कि बाल्यकाल में उसकी बुआ का स्वभाव भी ऐसा ही था।

जयकाली उस समय मातृ-स्नेह-मिश्रित भक्ति पूर्वक, ठाकुरजी के सम्मुख दृष्टि लगाये हुए दालान में बैठी हुई एकाग्रचित्त से माला जप रही थीं।

बालक निःशब्द पांवों से पीछे से माधवीलता के पास आकर खड़ा हो गया। उसने देखा, नीचे की शाखाओं के पुष्प पूजा के लिए तोड़ लिये गये हैं। तब वह अत्यन्त धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक माँचे पर चढ़ने लगा। ऊँची शाखा पर दो-एक विकासोन्मुख कलियों को देखकर, जब उसने शरीर एवं हाथ को आगे बढ़ा कर उन्हें तोड़ना चाहा, उसी समय अधिक बोझ के कारण जीर्ण माँचा शब्द करता (चरचराता) हुआ, टूटकर गिर पड़ा। उस पर आश्रित लता एवं बालक भी एक साथ ही पृथ्वी पर आ गिरे।

जयकाली झटपट उठ कर दौड़ी आई और अपने भाई के लड़के की करतूत देखी। उन्होंने जोर से बाँह पकड़ कर उसे मिट्टी से उठाया। उसके चोट यथेष्ट लगी थी, परन्तु उस चोट को दण्ड (सजा) नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो अज्ञानरूपी जड़ता की चोट थी। अस्तु

उस ऊपर से गिरे हुए बालक के व्यथित शरीर पर जयकाली का सज्ञान दण्ड बारम्बार जोर-जोर से बरसने लगा। बालक ने एक बूंद भी आँसू न बहा कर, उसे चुपचाप सह लिया। तब उसकी बुआ उसे घसीट कर घर के भीतर ले गई, जहाँ उसे बन्द कर दिया। उस दिन शाम को भोजन भी उसे नहीं दिया गया।

उसके बन्धन की बात सुनकर दासी मोक्षदा ने कातर कण्ठ एवं डबडबाये हुए नेत्रों से, बालक को क्षमादान देने के लिए प्रार्थना की परन्तु जयकाली का हृदय द्रवित नहीं हुआ। पंडितानी से छिपाकर भूखे बालक को कोई खाना खिला दे, इतना दुस्साहस किसी में नहीं था।

विधवा माँचा ठीक करने के लिए आदमी को कह कर, दुबारा हाथ में माला लेकर दालान में आ बैठी। कुछ क्षण उपरांत मोक्षदा ने डरते हुए उनके पास आकर कहा—"ठाकुर माँ (पण्डितानी जी), काका बाबू भूख के कारण रो रहे हैं, उनके लिए कुछ दूध ला दूँ क्या ?"

जयकाली ने अविचलित मुख से कहा—"नहीं।" मोक्षदा लौट गई। समीपस्थ कोठरी के कोने से नलिन का क्रन्दन क्रमशः क्रुद्ध गर्जन में परिणित हो उठा—अन्त में अनेक क्षण उपरान्त उसकी कातरता (व्याकुलता) का श्रान्त उच्छ्वास रह-रह कर, जप में संलग्न बुआ के कानों में आकर ध्वनित होने लगा।

नलिन का आर्त्त कण्ठ जब परिश्रांत (शिथिल) और मौनप्राय: होने को आया, उसी समय एक और प्राणी की भीत-कातर ध्वनि समीप ही ध्वनित होने लगी एवं उसके साथ ही दौड़ते हुए मनुष्यों का दूरवर्ती चीत्कार शब्द मिश्रित होकर मन्दिर के सामने वाले मार्ग पर एक बार कलरव करने लगा।

सहसा आँगन के बीच में एक पगध्वनि सुनाई दी। जयकाली ने पीछे फिरकर देखा, पृथ्वी पर गिरी हुई माधवीलता हिल रही है।

क्रुद्ध कण्ठ से उन्होंने पुकारा—"नलिन।"

किसी ने उत्तर नहीं दिया। उन्होंने समझा, जिद्दी नलिन किसी प्रकार बन्दी-गृह से निकल कर, उन्हें दुबारा क्रोध दिलाने आया है।

उस समय अत्यन्त कठोर भाव से ओठ के ऊपर ओठ दबाती हुई विधवा आँगन में उतर आई।

लताकुँज के पास उन्होंने पुनः पुकारा—"नलिन।"

उत्तर नहीं मिला। डाली हटा कर देखा, एक अत्यन्त मलिन शूकर ने प्राण-रक्षा के हेतु घने पत्तों के बीच आश्रय ग्रहण कर रक्खा है।

जो लता वितान इस ईंट की दीवार के बीच वृन्दा विपिन (वृन्दाबन) का संक्षिप्त प्रतिरूप है, जिसकी विकसित कुसुम-मंजरियों का सौरभ गोपियों की सुगन्धित निश्वास का स्मरण करता है एवं यमुना-तटवर्ती सुख-विहार के सौन्दर्य-स्वप्न को जाग्रत कर देता है—विधवा के उसी प्राणाधिक यत्नों द्वारा सुपवित्र नन्दन भूमि में अकस्मात् ही यह बीभत्स घटना घटित हो गई।

पुजारी ब्राह्मण हाथ में लाठी लिये हुए दौड़ आया।

जयकाली ने उसी समय आगे बढ़ कर उसे टोका तथा शीघ्रता पूर्वक मन्दिर का द्वार बन्द कर दिया।

कुछ देर पश्चात् ही मद्यपान से उन्मत्त डोमों का एक दल मन्दिर के द्वार पर उपस्थित हो, अपने बलिपशु के लिये चीत्कार करने लगा।

जयकाली ने बन्द द्वार के भीतर खड़े हुए कहा—"जाओ, बेटाओ, लौट जाओ। हमारे मन्दिर को अपवित्र मत करना।"

डोमों का दल लौट गया। जयकाली पण्डितानी अपने राधानाथ जी के मन्दिर में अपवित्र जन्तु को आश्रय देंगी, इस पर वे प्रायः प्रत्यक्ष देख कर भी विश्वास नहीं कर सके।

इस सामान्य घटना से अखिल विश्व के समस्त प्राणियों के महादेवता परम प्रसन्न हुए, परन्तु छोटे से गाँव के 'समाज' नामधारी अति क्षुद्र देवता अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे।

मध्यवर्त्तिनी

प्रथम परिच्छेद

★

निबारण का संसार अत्यन्त छोटा है, उसमें काव्य-रस की कोई भी गन्ध नाममात्र को भी नहीं है। जीवन के लिए उक्त रस भी कभी आवश्यक है, यह बात किसी भी समय उसके मन में उदय नहीं होती। जिस प्रकार परिचित पुरानी चट्टियों में दोनों पाँव अत्यन्त निश्चिन्तता-पूर्वक प्रवेश करते हैं, इस पुरातन पृथ्वी के बीच निबारण उसी प्रकार अपने चिरआयस्त स्थानों पर अधिकार किए हुए है, उस सम्बन्ध में भूल कर भी किसी प्रकार की चिन्ता, तर्क अथवा तत्वालोचना नहीं करता।

निबारण प्रातःकाल उठकर गली के किनारे घर के द्वार पर नंगे बदन बैठ कर अत्यन्त निश्चिन्त भाव से हुक्का ले तम्बाकू पीता रहता है। मार्ग पर लोग आते-जाते हैं, गाड़ी-घोड़ा चलते हैं, वैष्णव भिखारी गीत गाते हैं, पुरानी बोतलों को इकट्ठा करने वाले पुकारते हुए चले जाते हैं, ये समस्त चंचल दृश्य मन को थोड़ा बहुत बहलाये रहते हैं। जिस दिन कच्चे आम अथवा मछलीवाला आता उस दिन बहुत कुछ भाव-ताव करके उससे कुछ खरीद लिया जाता। और विशेष रूप से भोजन की तय्यारियाँ की जातीं। उसके पश्चात् यथा समय तेल मल कर, स्नान कर, भोजनोपरान्त खड़े हो चपकन पहिन, पान के साथ एक चिलम तम्बाकू पीकर तथा ऊपर से एक और पान मुँह में रख कर आफिस की यात्रा करता। आफिस से लौट आने के बाद शाम को

पड़ोसी रामलोचन घोष के घर में अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक संध्या बिताता एवं भोजनोपरांत शयन-गृह में पत्नी हरसुन्दरी के साथ भेंट करता।

उस समय मिश्र (एक जाति विशेष) के लड़कों के विवाह के साथ वर-भात, नवनियुक्त दासी की बेहूदगी एवं छोंक-बघार आदि की उपयोगिता के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त समालोचना चलती, उसे आज तक किसी भी कवि ने छन्दोबद्ध नहीं किया एवं उसके लिए निवारण के मन में कभी भी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ।

इसी बीच फागुन के महीने में हरसुन्दरी सख्त बीमार पड़ गई। ज्वर किसी भी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता था। डाक्टर ज्यों-ज्यों कुनैन देता, बाधा प्राप्त प्रबल झरने की भाँति ज्वर त्यों-त्यों ऊँचा चढ़ता जाता। इस प्रकार बीस दिन, बाईस दिन, चालीस दिन तक बीमारी चलती रही।

निवारण का आफिस जाना बन्द हो गया। रामलोचन की सन्ध्या-कालीन गोष्ठी में अब वह नहीं जाता, क्या करे, इसका कोई ठिकाना नहीं। एक बार शयन-गृह में जाकर रोगी की अवस्था जान आता, एक बार बाहरी बरामदे में बैठ कर चिन्तित मुख से तम्बाकू पीने लगता। दोनों वक्त डाक्टर, वैद्य बदले जाते तथा और वे जो कहते उसी औषधि की परीक्षा करके देखा जाता।

प्रेम की इस प्रकार अव्यवस्थित सुश्रुषा रहने पर भी चालीस दिन में हरसुन्दरी व्याधि-मुक्त हो गई। परन्तु ऐसी दुर्बल एवं अशक्त हो गई, मानो उसका शरीर बहुत दूर से ही अत्यन्त क्षीण स्वर में "मैं हूँ" केवल इतना ही कह पाता हो।

उन दिनों बसन्तकाल की दक्षिणी हवा ने चलना आरम्भ कर दिया एवं उष्ण रात्रि में चाँदनी को सीमन्तिनियों के उन्मुक्त शयनकक्ष में निःशब्द पदचाप से प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

हरसुन्दरी के घर के नीचे ही पड़ोसी के घर का बगीचा था। वह कोई विशेष दर्शनीय अथवा रमणीय स्थान था, ऐसा नहीं कहा जा

सकता, एक बार किसी व्यक्ति ने शौक के लिए क्रोटन के कुछ पौधे लगा दिये थे, तदुपरान्त उनकी ओर उसने एक बार भी दृष्टिपात नहीं किया। सूखी डालियों के मचान पर कुम्हड़े की बेल फैल गई थी, बूढ़े बेर के वृक्ष के नीचे विषम जंगल-सा हो गया था, रसोई घर के समीप दीवार टूट आने से कितनी ही ईंटों का ढेर लग गया था एवं उसी के साथ जलने से बचे हुए पत्थर के कोयले एवं राख का ढेर दिन प्रति दिन बढ़ता चला जा रहा था।

परन्तु खिड़की के नीचे शयन करते हुए इस बगीचे की ओर देखती हुई हरसुन्दरी हर समय एक प्रकार का आनन्द-रस-पान करती रहती थी, उसको क्षण-भंगुर जीवन ऐसा आनन्द और कोई नहीं प्रदान करता था। ग्रीष्म काल में बहाव के शिथिल पड़ जाने पर गाँव की छोटी सी नदी जिस समय बालू की शय्या के ऊपर पतली हो जाती है, वह उस समय जैसी अत्यन्त स्वच्छता प्राप्त करती है; तब जैसे प्रातःकालीन सूर्य का प्रकाश उसके तल-प्रदेश तक कम्पित-सा होते हुए ठहर जाता है, वायु का स्पर्श उसके सर्वांग को पुलकित कर देता है एवं आकाश के नक्षत्र उसके स्फटिक दर्पण के ऊपर सुख-स्मृति की भाँति अत्यन्त स्पष्ट भाव से प्रतिविम्बित होने लगते हैं, ठीक इसी प्रकार हर-सुन्दरी के क्षीण जीवन-तन्तुओं के ऊपर आनन्दमयी प्रकृति की प्रत्येक उँगली जैसे स्पर्श करने लगती है एवं हृदय के भीतर जो एक संगीत उठने लगता है उसके ठीक भाव को वह सम्पूर्ण रूप से नहीं समझ पाती।

ऐसे समय जब उसके पति उसके पास बैठ कर पूछते—"कैसी हो" उस समय उसके नेत्रों में जैसे जल छलक उठता। रोग-शीर्ण मुख पर उसके दोनों नेत्र अत्यन्त बड़े दिखाई देते, वह बड़े प्रेमार्द्र सकृतज्ञ नेत्रों को स्वामी के मुख पर ठहरा कर, दुर्बल हाथ से पति के हाथ को पकड़ लेती, स्वामी के हृदय में जैसे कहीं से एक नूतन अपरि-चित आनन्द-रश्मियों का प्रवेश हो उठता।

इस प्रकार कुछ दिन बीत गये। एक दिन रात्रि को भग्न-दीवाल के ऊपर उत्पन्न छोटे से पीपल के वृक्ष की काँपती हुई डालियों के बीच से एक बड़ा चाँद उठने लगा एवं सन्ध्या के समय की उमस को दूर करता हुआ पवन अचानक ही एक राक्षस के समान जाग्रत हो उठा। उस समय निवारण के केशों में उँगली डाल कर फिराते-फिराते हरसुन्दरी ने कहा—"मेरे तो लड़का-बच्चा कुछ हुआ नहीं, तुम एक और विवाह कर लो।"

हरसुन्दरी कुछ दिनों से इसी बात को सोच रही थी। मन में जिस समय एक प्रबल आनन्द, एक विशाल प्रेम का संचार होता है, उस समय मनुष्य का मन करता है—"मैं सब कुछ कर सकता हूँ।" उस समय अचानक ही एक आत्म-विसर्जन की इच्छा हो उठती है। झरने का उच्छ्वास जिस प्रकार कठोर तट के ऊपर अपने को तेजी से मूर्च्छित कर देता है, उसी प्रकार प्रेम का आवेग, आनन्द का उच्छ्वास, एक महान् त्याग, एक विशाल दुःख के ऊपर अपने को उसी प्रकार मिटा देना चाहता है।

उसी प्रकार की अवस्था में अत्यन्त पुलकित चित्त से एक दिन हरसुन्दरी ने स्थिर किया—अपने स्वामी के लिए मैं बहुत बड़ा कुछ करूँगी। परन्तु हाय, जैसी साध होती है, वैसी सामर्थ्य किस के पास है। हाथों के पास क्या है, क्या दिया जा सकता है? ऐश्वर्य नहीं, बुद्धि नहीं, सामर्थ्य नहीं; केवल एक प्राण है, यदि वे कभी देने पड़ें तो इसी समय दे सकती हूँ, परन्तु उनका मूल्य ही क्या है?

"और, स्वामी को यदि दुग्धफेन के समान शुभ्र, मक्खन के समान कोमल, शिशु-कामदेव के समान सुन्दर एक स्नेह की पुतली सन्तान नहीं दे सकती, परन्तु प्राणपण से इच्छा करके मर जाने पर भी तो वह नहीं हो सकता।" तब मन में होता स्वामी को एक विवाह दिया जा सकता है। सोचा—स्त्री इसके लिए इतनी डरती क्यों है, यह काम तो कुछ भी कठिन नहीं है। पति को जो प्यार करती है, सौत को प्यार

करना उसे क्यों असम्भव होगा। यह सोच कर उसकी छाती फूल उठती।

प्रस्ताव को जब पहिली बार सुना तो निवारण ने हँसी में उड़ा दिया, दूसरी और तीसरी बार भी कुछ ध्यान नहीं किया। स्वामी की इस असम्मति, इस अनिच्छा को देख कर हरसुन्दरी का विश्वास और सुख जितना बढ़ उठा, उसकी प्रतिज्ञा भी उतनी ही दृढ़ होने लगी।

इधर निवारण ने जब बारम्बार इस अनुरोध को सुना तो इसकी असम्भवता उसके मन से दूर हो गई एवं घर के द्वार पर बैठ कर तम्बाकू पीते-पीते सन्तानपूर्ण घर का सुखमय चित्र उसके मन में उज्वल होकर उठने लगा।

एक दिन स्वयं ही प्रसंग उठाकर कहा—"वृद्ध आयु में एक छोटी लड़की के साथ विवाह करके मैं उसे मनुष्य (बड़ी) नहीं कर सकूँगा।"

हरसुन्दरी ने कहा—"उसके लिए तुम्हें चिन्ता नहीं होगी। मनुष्य बनाने (बड़ी करने) का भार मेरे ऊपर रहेगा। कहते-कहते इस सन्तान-हीना रमणी के मन में एक किशोर वयस्का, सुकुमारी, लज्जाशीला, माता की गोद से तुरन्त अलग की गई, नव-वधू के मुख की छवि उदय हो उठी और हृदय स्नेह से आर्द्र हो उठा।

निवारण ने कहा—"मेरा आफिस है, काम है, तुम हो, छोटे बच्चे कहने-सुनने का अवसर मुझे नहीं मिलेगा।"

हरसुन्दरी ने बारम्बार कहा—"उसके लिए कुछ भी समय नष्ट नहीं करना होगा।" और अन्तिम परिहास करते हुए बोली—"अच्छा जी, उस समय देखूँगी कहाँ तुम्हारा काम रहता है, कहाँ मैं रहती हूँ और कहाँ तुम रहते हो?"

निवारण ने इस बात का उत्तर देना भी अपने मन में आवश्यक नहीं समझा, दण्ड-स्वरूप हँसते हुए हरसुन्दरी के गाल पर तर्जनी उँगली का आघात कर दिया। यह तो हुई भूमिका।

द्वितीय परिच्छेद

एक ज्ञान-हीना, अश्रु-पूर्ण छोटी सी बच्ची के साथ निवारण का विवाह हो गया, उसका नाम है—शैलबाला।

निवारण ने सोचा—नाम बड़ा मीठा है और मुँह भी बहुत गोल-मटोल है। उसके स्वभाव, उसके चेहरे, उसके चलने-फिरने को एक विशेष मनोयोगपूर्वक देखने की इच्छा होती है, परन्तु वह और कुछ नहीं हो उठती। इसके विपरीत वह ऐसा भाव दिखाती है कि वह तो एक छोटी सी लड़की है, उसे लाकर एक विषम विपत्ति में डाल रक्खा है, किसी भी प्रकार बचकर निकल जाऊँ तो अपनी आयु के अनुरूप कर्त्तव्य क्षेत्र में पहुँच कर इससे छुटकारा पा लिया जाय।

हरसुन्दरी निवारण को इस विषम विपत्ति-ग्रस्त भाव में देख कर मन ही मन बहुत आनन्द अनुभव करती; किसी-किसी दिन हाथ पकड़ कर दबाती हुई कहती—"अहा, भागते कहाँ हो? वह छोटी सी बच्ची ही तो है। वह तुम्हें खाकर फेंक नहीं देगी।"

निवारण दुगनी घबराहट का भाव धारण करके कहता—"अरे, ठहरो, तो मुझे एक विशेष कार्य है।" कह कर भागने का मार्ग नहीं पाता। हरसुन्दरी हँसती हुई दरवाजे को रोक कर कहती—"आज धोखा नहीं दे पाओगे।" अन्त में निवारण अत्यन्त ही निरुपाय होकर कातर-भाव से बैठ जाता।

हरसुन्दरी उसके कानों के पास कहती—"अहा, पराई लड़की को घर लाकर इस प्रकार निरादर नहीं करना चाहिए।"

यह कह कर शैलबाला को पकड़ निवारण के बाँये पार्श्व में बैठा देती एवं जबर्दस्ती घूँघट खोल कर और ठोड़ी पकड़ कर उसके झुके हुए मुख को ऊपर उठा कर निवारण से कहती—"अहा, कैसा चाँद सा मुखड़ा है, देखो तो सही।"

किसी दिन वह, उन दोनों को घर में बैठा कर "मुझे काम है" कह कर उठ जाती एवं बाहर से झनझना कर दरवाजे को बन्द कर देती।

निवारण निश्चयपूर्वक जानता, दो कौतूहली आँखें किसी न किसी छेद से अवश्य लगी हुई होंगी; वह अत्यन्त उदासीन भाव से करवट बदल कर सोने का उपक्रम करता, शैलबाला घँघट खींच कर पेट में घुटने दे, मुँह फिरा कर, एक कोने के बीच सिमट कर बैठी रहती ।

अन्त में हरसुन्दरी ने बिल्कुल लाचार होकर प्रयत्न करना छोड़ दिया, परन्तु बहुत अधिक दुःखी नहीं हुई ।

हरसुन्दरी ने जब प्रयत्न छोड़ दिया तब स्वयं निवारण प्रयत्न करने लगा । यह बड़ा कौतूहल, एक बड़ा रहस्य है । एक हीरे का टुकड़ा पाकर उसे अनेकों भाव से घुमा-फिरा कर देखने की इच्छा होती है, और यह तो एक छोटा-सा सुन्दर मनुष्य का मन है—बड़ा अपूर्व । इसे कितनी ही प्रकार से छू कर, सहेज कर; ओट में से, सामने से, बगल से देखा जाता है । कभी एक बार कान की बालियों को हिला कर, कभी घूँघट को एक बार ऊपर खींच कर, कभी बिजली की भांति अचानक चकित होकर, कभी नक्षत्रों के समान बहुत देर तक टकटकी लगा कर, नये-नये सौन्दर्य की सीमा का अनुमान किया जाता है ।

मैक मोरान कम्पनी के आफिस के बड़े बाबू (हैड क्लर्क) श्री युत् निवारणचन्द्र के अदृष्ट (भाग्य) को ऐसी अज्ञानता इससे पूर्व कभी नहीं हुई थी । जब उन्होंने पहला विवाह किया था, उस समय वे बालक थे; जब उन्होंने यौवन प्राप्त किया, उस समय स्त्री उनके समीप चिर-परिचित थी, विवाहित जीवन की चिर अभ्यस्त । हरसुन्दरी को वे अवश्य ही प्रेम करते थे, परन्तु कभी भी उनके मन में धीरे-धीरे प्रेम का सचेतन संचार नहीं हुआ था ।

एक बार ही जो कीड़ा पके आम के भीतर जन्म प्राप्त करता है, जिसे किसी भी समय रस की खोज नहीं करनी पड़ती, जो धीरे-धीरे रसास्वादन नहीं करता, उसे एक बार बसन्त-कालीन विकसित पुष्प-वन के बीच छोड़ देने पर देखो—विकासोन्मुख गुलाब के अधखुले मुख के समीप चक्कर लगाने में उसका क्या आग्रह होता है । जब वह एक बार

भी सौरभ पाता है, एक बार भी वह मधुर स्वाद प्राप्त करता है, तो उससे उसे कितना नशा होता है ?

निवारण पहले कभी-कभी एक गाउन पहने हुए काँच की गुड़िया, कभी-कभी एक शीशी एसेन्स, कभी-कभी कोई मिठाई खरीद कर ले आता और शैलबाला को चुपचाप दे देता। इस भाँति एक प्रकार की घनिष्ठता का सूत्रपात हुआ। अन्त में किसी एक दिन हरसुन्दरी ने गृह-कार्य से अवकाश प्राप्त कर, दरवाजे के छेद से देखा, निवारण एवं शैलबाला बैठे हुए कौड़ी लेकर 'दस-पच्चीस' (एक विशेष प्रकार का खेल) खेल रहे हैं।

वृद्धावस्था का यही खेल तो है। निवारण प्रातःकाल ही भोजनादि कर, जब कभी आफिस के लिए बाहर निकलता, परन्तु आफिस न जाकर अन्तःपुर में प्रविष्ट हो जाता। इस छल की क्या आवश्यकता थी। सहसा एक जलती हुई वज्रशलाका द्वारा न जाने किसने हरसुन्दरी की आँखें खोल दीं, उसके तीव्र ताप से आँखों का पानी भाप बन कर सूख गया।

हरसुन्दरी ने मन ही मन कहा—"मैं ही तो उसे घर में लाई हूँ, मैंने ही तो मिलन कराया है, तब मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार क्यों—जैसे मैं ही उनके सुख का काँटा होऊँ।"

हरसुन्दरी शैलबाला को गृह-कार्य सिखाती थी। एक दिन निवारण ने मुँह खोल कर कहा—"छोटी बच्ची है, उससे तुम बहुत अधिक परिश्रम कराती हो, उसका शरीर अभी वैसा सबल नहीं है।"

एक बहुत तीखा उत्तर हरसुन्दरी के मुख के पास आया, परन्तु कुछ बोली नहीं, चुप रह गई।

उस समय से बहू को किसी भी गृह-कार्य में हाथ नहीं लगाने देती; भोजन बनाना-परोसना, देखना-सुनना सभी कार्य स्वयं करती थी। इतना हुआ कि शैलबाला अब उठ-बैठ भी नहीं पाती, हरसुन्दरी दासी की भाँति उसकी सेवा करती है एवं स्वामी विदूषक की भाँति उसका

मनोरंजन करते हैं । संसार में काम करना एवं दूसरों की देख भाल करना ही जीवन का कर्त्तव्य है—यह शिक्षा उसे मिली ही नहीं ।

हरसुन्दरी जो चुपचाप दासी की भाँति कार्य करने लगी, उसके भीतर एक भारी अभिमान है । उसके भीतर न्यूनता (छोटापन) एवं दीनता नहीं है । उसने कहा—"तुम दोनों बच्चे मिल कर खेलते रहो, संसार का समस्त भार मैं लिये लेती हूँ ।"

तृतीय परिच्छेद

हाय, आज कहाँ है वह बल जिस बल पर हरसुन्दरी ने सोचा था कि वह स्वामी के हेतु चिर-जीवन-काल तक अपने प्रेम के दावे के आधे अंश को बिना किसी द्विविधा के छोड़ पायेगी ? अचानक ही एक दिन पूर्णिमा की रात्रि में जीवन में जिस समय ज्वार आता है, उस समय दोनों तटों को प्लावित करके मनुष्य सोचता है—"मेरी कहीं भी सीमा नहीं है ।" उस समय वह जो एक बड़ी प्रतिज्ञा कर बैठता है, जीवन के सुदीर्घ भाटे के समय उस प्रतिज्ञा की रक्षा करने में उसके सम्पूर्ण प्राणों में खिचावट आ जाती है । अचानक ही ऐश्वर्य के दिनों में लेखनी एक ही लकीर में जिस दान-पात्र को लिख देती है, चिर-दारिद्रय के दिनों में क्षण-क्षण पर, तिल-तिल करके उसे संशोधित कर उठती है । उस समय समझ में आता है, मनुष्य बड़ा दीन है, हृदय बड़ा दुर्बल है, उसकी क्षमता अत्यन्त सामान्य है ।

लम्बी बीमारी से उठने पर रक्तहीन पाण्डुवर्ण हरसुन्दरी उस दिन शुक्ल पक्ष की द्वित्तीया के चन्द्रमा के समान एक क्षीण रेखामात्र थी, संसार में बहुत ही छोटी जान पड़ती थी । मन में लगता था—"जैसे मुझे कुछ भी न होने पर ही चलेगा ।" धीरे-धीरे शरीर बलिष्ठ हो उठा, रक्त का तेज बढ़ने लगा, उस समय हरसुन्दरी के मन में कहीं से एक साझीदार आ उपस्थित हुआ । उसने उच्च स्वर में कहा—"तुम तो त्याग-पत्र लिख कर बैठ गई हो, परन्तु मैं अपने अधिकार को नहीं छोड़ूँगा ।

हरसुन्दरी जिस दिन पहली बार परिष्कृत रूप में अपनी अवस्था को समझ सकी, उस दिन निवारण और शैलबाला के लिए अपना शयन-गृह त्याग कर, दूसरे घर में अकेली जाकर सो गई।

आठ वर्ष की आयु से दिन-रात जिस शय्या पर पहले सोती रही थी, आज सत्ताईस वर्ष के पश्चात्, उसी शय्या को त्याग दिया। दीपक बुझा कर यह सधवा स्त्री जिस समय हृदय में असह्य भाव लेकर अपनी नवीन विधवा-शय्या के ऊपर आ पड़ी, उस समय गली के दूसरी ओर एक शौकीन युवक विहाग रागिनी में मालिनी का गीत गा रहा था; एक अन्य व्यक्ति बाँये तबला का संयोग कर रहा था एवं श्रोतागण सम के साथ ही हा हा करके चीत्कार कर उठते थे।

उनका वह गाना उस निस्तब्ध चाँदनी रात्रि में बगल के घर में पूरा सुनाई नहीं दे रहा था। उस समय बालिका शैलबाला की निंदियारी आँखें झूम रहीं थीं और निवारण उसके कानों के समीप मुख रख कर धीरे-धीरे कह रहा था—"सखी।"

इस आदमी ने इसी बीच बंकिम बाबू का 'चन्द्रशेखर' (एक उपन्यास) पढ़ डाला है एवं दो-एक आधुनिक कवियों का काव्य भी शैलबाला को पढ़ कर सुना दिया है।

निवारण के जीवन की निचली तह में जो एक यौवन का स्रोत सदैव से दबा पड़ा था, वह आघात पाकर अचानक ही बड़े बेमौके उच्छ्वासित हो उठा। कोई भी उसके लिए तैयार न था, इसीलिए उसकी शुद्ध-बुद्धि एवं संसार (गृहस्थी) का सम्पूर्ण प्रबन्ध उलट-पुलट हो गया। वह बिचारा किसी भी समय नहीं जानता था कि मनुष्य के भीतर ऐसे सभी उपद्रवकारी पदार्थ रहते हैं, इस प्रकार की समस्त प्रचंड दुष्ट शक्तियाँ सम्पूर्ण हिसाब-किताब, शृङ्खला-सामंजस्य को एक बार में ही नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं।

केवल निवारण ही नहीं, हरसुन्दरी ने भी एक नवीन पीड़ा का परिचय प्राप्त किया। यह किस की आकांक्षा है, यह किसकी दुःसह

यन्त्रणा है ? मन इस समय जो चाहता है, वैसा उसने कभी भी नहीं चाहा, कभी भी तो उसे नहीं पा सका । जब भलीभांति निवारण नियमित रूप से आफिस जाता था, जब सोने से पूर्व कुछ देर के लिये दूध वाले का हिसाब वस्तुओं की मंहगाई एवं लौकिक-कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में आलोचना चलती थीं, उस समय तो इस आन्तरिक विप्लव का कोई सूत्रपात्र भी नहीं था । वह प्रेम केवल अप्रज्ज्वलित ईंधन की भाँति ही था ।

आज उसके मन में उठा, जीवन की सफलता यही है कि कोई उसे चिरकाल से वंचित करता चला आ रहा है । उसका हृदय जैसे सदैव से उपवास करता आया है । उसका यह नारी-जीवन बड़ी दरिद्रता में ही कटा है । उसने केवल हाट-बाजार, पान-मसाला, साग-तरकारी आदि के झंझट को लेकर ही सत्ताईस अमूल्य वर्ष दास्यवृत्ति करते हुए काटे हैं और आज जीवन के मध्य-मार्ग में आकर देखा है कि उसी के शयन कक्ष के बगल में एक गुप्त महान ऐश्वर्य भण्डार का ताला खोलकर एक क्षुद्र बालिका एक बार में ही राजराजेश्वरी होकर बैठ गई है । नारी दासी होती है, परन्तु उसके साथ ही नारी रानी भी होती है । परन्तु, बटवारा करके एक नारी दासी हो गई और एक नारी रानी बन गई, इससे दासी का गौरव चला गया और रानी का सुख भी नहीं रहा ।

कारण, शैलबाला ने भी नारी-जीवन के यथार्थ सुख का स्वाद नहीं पाया । लगातार इतना अधिक आदर पाया है कि प्यार करने के लिए एक क्षण का भी अवसर नहीं रहा । समुद्र की ओर प्रवाहित होकर, समुद्र के बीच आत्म-विसर्जन समझने में नदी का एक महत्व चरितार्थ होता है, परन्तु समुद्र यदि ज्वार के खिंचाव में पड़ कर, निरंतर ही नदी की ओर उन्मुख बना रहे, तो नदी केवल अपने बीच में ही अपनी वृद्धि पाकर रह जायेगी । गृहस्थी अपना सम्पूर्ण आदर-सुहाग लेकर दिन-रात शैलबाला की ओर बढ़ती रही, जिससे शैलबाला का आत्म-सम्मान अत्यन्त ऊँचा होकर उठने लगा । गृहस्थी के प्रति उसका स्नेह

नहीं हो पाया। उसने समझा—"मेरे ही लिये सब कुछ है एवं मैं किसी के लिए नहीं हूँ।" इस अवस्था में यथेष्ट अहंकार है, परन्तु परि-तृप्ति (सन्तोष) कुछ भी नहीं है।

चतुर्थ परिच्छेद

एक दिन घनघोर बादल घिर आये। ऐसा अँधेरा कर दिया कि घर में काम काज करना असंभव हो गया। बाहर 'झप्-झप्' करती हुई वर्षा हो रही थी। बेर के पेड़ के नीचे लतागुल्म का जंगल जल में प्रायः डूब गया एवं दीवाल के समीपवर्ती नाले में होकर बड़े जोर का जल-स्रोत कल-कल शब्द करके बह चला। हरसुन्दरी अपने नवीन शयन-गृह के निर्जन अन्धकार में खिड़की के पास चुपचाप बैठी हुई थी।

इसी समय निवारण ने चोर की भाँति धीरे-धीरे द्वार के पास प्रवेश किया; 'लौट जाऊँ या आगे बढ़ूँ' यह नहीं सोच सका। हरसुन्दरी ने उसे देखा, परन्तु कोई बात नहीं कही।

उस समय निवारण अचानक ही एक साथ तीर के समान हर-सुन्दरी के पास जाकर एक ही श्वास में कह गया—"कुछ गहनों की आवश्यकता है। तुम जानती हो कि अनेक लोगों का देना हो गया है, पाउनेदार (ऋणदाता) बहुत अपमान कर रहे हैं—कुछ गिरवी रखना होगा; शीघ्र ही उसे छुड़ा लाऊँगा।"

हरसुन्दरी ने कोई उत्तर नहीं दिया। निवारण चोर की भाँति खड़ा रहा। अन्त में फिर बोला—"तो क्या आज नहीं होगा ?"

हरसुन्दरी ने कहा—"नहीं।"

घर में प्रवेश करना जितना कठिन था, घर से अविलम्ब बाहर होना भी उसी प्रकार कठिन था। निवारण कुछ इधर-उधर देख कर संकोचपूर्वक बोला—"तब दूसरी जगह जाकर प्रयत्न करके देखूँगा।" कह कर वह चला गया।

ऋण कहाँ है और कहाँ गहने बन्धक रखे जायेंगे, हरसुन्दरी उस सबको समझ गई। समझा, नव-वधू ने पिछली रात को इस हतबुद्धि

पालतू पुरुष से अत्यन्त ठसक के साथ कहा होगा---"दीदी के पास सन्दूक-भरे गहने हैं और मेरे लिए एक भी नहीं मिल पाते।"

हरसुन्दरी ने निवारण के चले जाने पर धीरे-धीरे उठकर लोहे के सन्दूक को खोल कर एक-एक करके सभी गहनों को बाहर निकाला। शैलबाला को बुला कर पहले अपने विवाह की बनारसी साड़ी पहनाई, उसके पश्चात् उसे पाँव से मस्तक तक एक-एक करके गहनों से लाद दिया। भली भाँति केश बाँध कर दीपक के प्रकाश में देखा, बालिका का मुख अत्यन्त मधुर, एक सद्य-पक्व (तुरन्त पके हुए) सुगन्धित फल की भाँति गोल और रसपूर्ण है। शैलबाला जब 'छम्-छम्' शब्द करती हुई चली गई, उस शब्द को बहुत समय तक धारण कर, हरसुन्दरी की शिराएँ रक्त में 'झम्-झिम्' करके बजने लगीं। मन ही मन कहा---"आज और क्या लेकर तुझसे मेरी तुलना हो सकती है। परन्तु एक समय मेरी भी तेरी जितनी आयु थी, मैं भी तो इसी प्रकार यौवन की अन्तिम रेखा तक भर उठी थी, तब मुझे इस बात की खबर किसी ने क्यों नहीं दी? कब वह दिन आया और कब वह चला गया। उसका एक बार भी समाचार नहीं मिला।" परन्तु, किस अभिमान, किस गौरव और किस तरंग में बहकर शैलबाला चल रही है?

हरसुन्दरी जिस समय केवल मात्र गृहस्थी को ही जानती थी, उस समय ये गहने उसके लिए कितने मूल्यवान थे। उस समय क्या बिना किसी विरोध के इन सबको इस भांति एक क्षण में ही अपने हाथ से छोड़ सकती थी! इस समय गृहस्थी के अतिरिक्त एक और बड़ी वस्तु का उसे परिचय प्राप्त हो गया है, इस समय गहनों का मूल्य, भविष्य का हिसाब, सब कुछ तुच्छ हो गया है।

और, शैलबाला, सोना-माणिक से झकमक् करती हुई शयन-गृह को चली गई, एक बार क्षण भर के लिए भी नहीं सोचा कि हरसुन्दरी ने उसे कितना दिया है। उसने समझा, चारों ओर से समस्त सेवा, समस्त सम्पत्ति, समस्त सौभाग्य स्वाभाविक रूप से उसमें आकर समाप्त हो गया है; क्योंकि वह है शैलबाला, वह है सखी।

पंचम परिच्छेद

कोई-कोई व्यक्ति स्वप्नावस्था में अत्यन्त संकटपूर्ण मार्ग पर चलते चले जाते हैं। क्षण भर को भी चिन्ता नहीं करते। अनेक जाग्रत मनुष्यों को भी उसी प्रकार की चिर-स्वप्नावस्था उपस्थित हो जाती है; कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, विपत्ति के संकीर्ण मार्ग पर होकर निश्चिन्त मन से आगे बढ़ते जाते हैं, अन्त में अत्यन्त दारुण सर्वनाश के बीच पहुँच कर जग उठते हैं।

हमारे मैकमेरान कम्पनी के बड़े बाबू की भी वही दशा है। शैलबाला उनके जीवन के बीच एक प्रबल भँवर (पानी में पड़ने वाला चक्र) की भाँति घूमने लगी एवं बहुत दूर से विभिन्न बेशकीमती वस्तुएँ आकर्षित होकर उसमें अदृश्य होने लगीं। केवल निवारण का मनुष्यत्व एवं मासिक वेतन, हरसुन्दरी का सुख-सौभाग्य एवं वस्त्राभूषण ही नहीं, साथ-साथ मैकमेरान कम्पनी की कैश (रुपया) रोकड़ भी गुप्त रूप से खिचने लगी। उसमें से एक-एक करके थैलियाँ अदृश्य होने लगीं। निवारण सोचता "अगले मास के वेतन में से धीरे-धीरे चुकाना आरंभ कर दूँगा।" परन्तु, आगामी मास का वेतन हाथ में आते ही उस भँवर का खिचाव होने लगता एवं अन्तिम दुअन्नी तक चकित की भाँति चिकमिक करती हुई विद्युत-वेग से अन्तर्ध्यान हो जाती।

अन्त में वह एक दिन पकड़ा गया। पुश्तैनी नौकरी थी; साहब बहुत चाहता था। रोकड़ पूरी करने के लिए केवल दो दिन का समय दे दिया।

किस प्रकार से उसने धीरे-धीरे ढाई हज़ार रुपये रोकड़ से निकाल लिये थे, इसे निवारण स्वयं भी नहीं समझ सका। एक बार पागल जैसा होकर हरसुन्दरी के पास गया, बोला—"सर्वनाश हो गया।"

हरसुन्दरी सब बात सुनकर एक बार सफेद पड़ गई।

निवारण ने कहा—"शीघ्र ही आभूषणों को बाहर निकालो।"

हरसुन्दरी ने कहा—"वह तो मैं सब छोटी बहू को दे चुकी।"

निवारण नितान्त शिशु की भाँति अधीर होकर कहने लगा—"किसने दिये छोटी बहू को ? किसने तुम्हें देने के लिए कहा ?"

हरसुन्दरी ने उसे ठीक उत्तर न देते हुए कहा—"उससे हानि क्या हुई, वह कोई पानी में तो गिर नहीं पड़े ।"

डरपोक निवारण ने कातर-स्वर में कहा—"तब क्या तुम कोई बहाना करके उसके पास से बाहर निकाल सकोगी ? परन्तु, मेरी शपथ खाओ, यह मत कहना कि मैं चाहता हूँ अथवा किसलिये चाहता हूँ ।"

उस समय हरसुन्दरी मर्मान्तिक विरक्ति एवं घृणा में भर कर कहने लगी—"यह क्या तुम्हारा बहाना करने या अमीरी दिखाने का समय है ? चलो ।" कहकर स्वामी को साथ ले छोटी बहू के घर में प्रविष्ट हो गई ।

छोटी बहू कुछ नहीं समझी । वह सब बातें सुनकर बोली—"सो मैं क्या जानूं ?"

संसार की कोई भी चिन्ता उसे कभी भी विचारनी पड़ेगी, ऐसी बात उसके साथ क्या थी ? सब लोग अपनी चिन्ता आप करेंगे एवं सब मिलकर शैलबाला के आराम की चिन्ता करेंगे, अचानक ही इसमें व्यवधान आ पड़ा, यह क्या भयानक अन्याय है ?

उस समय निवारण शैलबाला के पाँव पकड़ कर रो पड़ा । शैलबाला ने केवल यही कहा—"सो मैं नहीं जानती । अपनी वस्तु मैं क्यों दूं ?"

निवारण ने देखा, वह दुर्बल, क्षुद्र, सुन्दर, सुकुमारी बालिका लोहे के सन्दूक से भी अधिक कठोर है । हरसुन्दरी संकट के समय स्वामी की इस दुर्बलता को देखकर घृणा से जर्जर हो उठी । वह शैलबाला से चाबी का गुच्छा जबरदस्ती छीनने के लिए चली । शैलबाला ने उसी समय चाबी का गुच्छा दीवार के पीछे वाले तलाब में फेंक दिया ।

हरसुन्दरी ने हतबुद्धि पति से कहा—"ताले को तोड़ कर फेंक दो न ।"

शैलबाला प्रशान्त मुख से बोली—"ऐसा होने पर मैं गले में फाँसी डालकर मर जाऊंगी ।"

निवारण ने कहा—"मैं एक और प्रयत्न करके देखता हूँ ।" कह कर नंग-धड़ंग वेश में ही बाहर चला गया ।

निवारण दो घण्टे के बीच ही पैतृक-मकान को ढाई हजार रुपये में बेचकर आगया ।

बहुत कष्ट पूर्वक हाथ से हथकड़ी तो बच गई, परन्तु नौकरी चली गई । स्थावर-जंगम के बीच केवल दो स्त्रियां रह गईं । उनमें भी कष्ट-पीड़िता बालिका-स्त्री गर्भवती होकर नितान्त स्थावर होकर पड़ गई । गली के बीच एक छोटे से सीढ़ियों वाले मकान में इस छोटे से परिवार ने आश्रय ग्रहण किया ।

षष्ठ परिच्छेद

छोटी बहू के असन्तोष एवं दुःख का कोई अन्त नहीं । वह किसी भी प्रकार नहीं समझना चाहती कि उसके पति में सामर्थ्य नहीं है । यदि सामर्थ्य नहीं है तो विवाह क्यों किया ?

ऊपरी मंजिल में केवल दो घर हैं । एक घर में निवारण और शैलबाला का शयन कक्ष है । दूसरे घर में हरसुन्दरी रहती है । शैलबाला खुनखुन करती हुई कहती—"मैं दिन-रात छोटे से घर में नहीं रह सकती ।"

निवारण मिथ्या-आश्वासन देते हुए कहता—"मैं और एक अच्छे मकान की खोज में हूँ, शीघ्र ही मकान बदल लूंगा ।"

शैलबाला कहती—"क्यों, इसके पास भी तो एक घर है ।"

शैलबाला ने अपनी पहली पड़ोसिनों की ओर कभी मुँह उठाकर भी नहीं देखा था । निवारण की वर्त्तमान दुरवस्था से व्यथित होकर, वे एक दिन देखने के लिए आईं । शैलबाला घर में सांकल देकर बैठी रही, किसी भी प्रकार दरवाजा नहीं खोला । उनके चले जाने पर क्रुद्ध

हो, रोकर, उपवास रखकर, हिस्टीरिया पैदा कर मुहल्ले भर को माथे पर उठा लिया। इस प्रकार उसके उत्पात अक्सर होने लगे।

अन्त में शैलबाला के शारीरिक संकट की अवस्था में कठिन पीड़ा हो उठी, इतना ही क्यों, गर्भपात होने का उपक्रम होने लगा।

निवारण ने हरसुन्दरी के दोनों हाथ पकड़ कर कहा—"तुम शैल को बचाओ।"

हरसुन्दरी दिन नहीं, रात नहीं, शैलबाला की सेवा करने लगी। तिल भर भी त्रुटि होने पर शैल उससे दुर्वाक्य कहती, पर वह एक का भी उत्तर नहीं देती।

शैल कुछ भी पथ्य नहीं लेना चाहती, साबूदाने के कटोरे को उठाकर फेंक देती, ज्वर के समय कच्चे आम के अचार के साथ भात खाना चाहती। न मिलने पर क्रुद्ध होकर, रोकर अनर्थपात कर उठती। हरसुन्दरी उसे 'मेरी लक्ष्मी' 'मेरी बहिन' 'मेरी दीदी' कहकर शिशु के समान बहलाने का प्रयत्न करती।

परन्तु शैलबाला बची नहीं। संसार का सम्पूर्ण सौभाग्य एवं आदर लेकर, अत्यन्त कष्ट और असन्तोष के कारण बालिका का क्षुद्र, असम्पूर्ण व्यर्थ जीवन अकाल में ही नष्ट हो गया।

सप्तम परिच्छेद

निवारण को पहले एक बड़ा आघात लगा; दूसरे ही क्षण देखा—उसका एक कठोर बन्धन टूट गया है। शोक के बीच भी सहसा उसे एक मुक्ति का आनन्द ज्ञात हुआ। अचानक ही ऐसा लगा, इतने दिनों से उसकी छाती पर एक दुःस्वप्न चिपका हुआ था। चैतन्य होने पर क्षण भर में ही जीवन अत्यन्त हल्का होगया। माधवीलता के समान यह जो कोमल जीवन-पाश छूट गया, यही क्या उसकी आदरणीय शैलबाला थी? सहसा निःश्वास खींचकर देखा—नहीं, वह उसके गले की फांसी थी।

और उसके चिर-जीवन की संगिनी हरसुन्दरी ? देखा, वही तो उसके सम्पूर्ण संसार पर एकाकी अधिकार कर, उसके जीवन के सम्पूर्ण सुख-दुःखों के स्मृति-मन्दिर के बीच बैठी हुई है---परन्तु फिर भी बीच में एक विच्छेद है । ठीक जैसे एक क्षुद्र, उज्ज्वल, सुन्दर, निष्ठुर छुरी ने आकर एक ही हृत्पिण्ड के दक्षिण एवं बाम भाग के बीच वेदनापूर्ण विदारण-रेखा (काटने वाली रेखा) खींच दी हो ।

एक दिन, सम्पूर्ण शहर जिस समय सोरहा था, निवारण ने धीरे-धीरे हरसुन्दरी के सुनसान शयन-कक्ष में प्रवेश किया । चुपचाप उसी पुराने नियम के अनुसार, उसी पुरानी शय्या के दाहिने भाग को ग्रहण कर सो गया । परन्तु, इस बार उसने चिर-अधिकार के बीच चोर की भाँति प्रवेश किया ।

हरसुन्दरी ने एक भी बात नहीं कही, निबारण ने भी एक भी बात नहीं कही । वे पहले जिस प्रकार पास-पास सोया करते थे, इस समय भी उसी प्रकार पास-पास सोये ; परन्तु ठीक बीच में एक मृत-बालिका सोती रही, उसे कोई भी नहीं लाँघ सका ।

पुत्र यज्ञ

★

वैद्यनाथ गाँव में समझदार थे, इसीलिए वे भविष्य की ओर दृष्टि रखकर वर्त्तमान के सम्पूर्ण कार्यों को करते थे। जब विवाह किया, तब उन्होंने वर्त्तमान नववधू की अपेक्षा भावी नवशिशु के मुख को स्पष्ट रूप से देख पाया था। शुभदृष्टि (विवाह) के समय ऐसी दूरदृष्टि प्रायः देखी नहीं जाती। वे पक्के आदमी थे, इसीलिए प्रेम की अपेक्षा पिण्ड को ही अधिक समझते एवं 'पुत्रार्थ क्रियते भार्या' (पुत्र के लिए पत्नी करनी चाहिए) इसी मर्म को समझ कर उन्होंने विनोदिनी से विवाह किया था।

परन्तु इस संसार में समझदार व्यक्ति भी ठगे जाते हैं। यौवन प्राप्त होने पर भी जब विनोदिनी ने अपने सर्वप्रधान कर्तव्य का पालन नहीं किया, उस समय 'पुन्नाम नरक' के द्वार खुले हुए देखकर वैद्यनाथ अत्यन्त चिन्तित हुए। मृत्यु के पश्चात् उनके विपुल ऐश्वर्य का भोग कौन करेगा, इस भावना के कारण मृत्यु से पूर्व ही वे उस ऐश्वर्य का भोग करने में एक प्रकार से विमुख होगये। पहले ही कहा जा चुका है कि वर्त्तमान की अपेक्षा भविष्य को ही वे सत्य कहकर जानते हैं।

परन्तु युवती विनोदिनी से हठात् इस प्रकार की समझदारी की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। उस बेचारी का बहुमूल्य वर्तमान, उसका नवविकसित यौवन, बिना प्रेम के व्यर्थ ही बीता चला जा रहा है। यही उसके लिए सबसे शोचनीय बात थी। पारलौकिक पिण्ड की क्षुधा को वह इहलौकिक मन की भूख के दाह के समक्ष एक बार में ही भूल

बैठी, मनु के पवित्र विधान एवं वैद्यनाथ की आध्यात्मिक व्याख्या से उसके बुभुक्षित हृदय की रत्ती भर भी तृप्ति नहीं होती।

कोई कुछ भी कहे, इस आयु में प्रेम देना और प्रेम पाना ही स्त्रियों को समस्त सुख एवं सम्पूर्ण कर्त्तव्यों की अपेक्षा स्वभावतः अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ता है।

परन्तु विनोदा के भाग्य में नवीन-प्रेम की वर्षा-वारी-सिंचन के बदले पति, फफुआ-सास तथा अन्यान्य उच्च एवं उच्चतर लोगों के सम्मिलित आकाश से तर्जन-गर्जन की शिला वृष्टि की ही व्यवस्था हुई। सभी उसे 'वन्ध्या' कहकर अपराधी ठहराते। एक फूल के पौधे को प्रकाश एवं वायु से रहित मकान में रखने से उसकी जो अवस्था होती है, विनोदा के वंचित-यौवन की भी वही अवस्था हुई।

सदा-सर्वदा इसी कानाफूंसी एवं बकाबकी के बीच न ठहर पाने के कारण जब वह कुसुम के मकान में ताश खेलने जाती, उस समय उसे बहुत अच्छा लगता। वहाँ पुन्नामनरक की भीषण छाया सदैव वर्त्तमान न रहने से, हँसी-ठट्ठा और कहानियों में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी।

कुसुम जिस दिन ताश खेलने को साथी नहीं पाती, उस दिन अपने तरुण देवर नगेन्द्र को पकड़कर ले आती। नगेन्द्र और विनोदा की आपत्ति को वह हंसी में उड़ा देती। इस संसार में एक से दूसरा होता है एवं खेलने का क्रम संकट में परिणित हो सकता है—इन सब गंभीर बातों पर अल्पायु में यकायक ही विश्वास नहीं होता।

इस सम्बन्ध में नगेन्द्र की भी आपत्ति की दृढ़ता कुछ नहीं देखी गई; अब वह ताश खेलने के लिए अधिक बुलाहट की प्रतीक्षा भी नहीं कर पाता।

इस प्रकार विनोदा के साथ नगेन्द्र का अक्सर साक्षात्कार होने लगा।

नगेन्द्र जब ताश खेलने के लिए बैठता, तब ताशों की अपेक्षा

सजीव पदार्थ के प्रति उसके नेत्र तथा मन लगे रहते और वह खेल में अक्सर हारने लगता । पराजय का वास्तविक कारण समझना कुसुम और विनोदा—किसी से भी बाकी नहीं रहा । पहले ही कहा जा चुका है, कर्मफल का गुरुत्व समझना अल्पायु का काम नहीं है । कुसुम मन में सोचती—यह एक बड़ा मजा हो रहा है और यह मजा का क्रम सोलहों आना सम्पूर्ण हो उठे, इस सम्बन्ध में उसका एक आग्रह भी था । प्रेम के नवांकुर को गुप्त रूप से जल-सिंचित करना युवतियों के लिये बड़ा आनन्दकर है ।

विनोदा को भी बुरा नहीं लगा । हृदय जीतने के तीक्ष्ण-अस्त्र को एक पर-पुरुष के ऊपर पैनाने की इच्छा अन्याय हो सकती है, परन्तु नितान्त अस्वाभाविक नहीं ।

इस प्रकार ताश की हार-जीत एवं छक्का-पंजा के बारम्बार आवर्तन के बीच किसी एक समय दोनों खिलाड़ियों के मन परस्पर मिल गये, अन्तर्यामी के अतिरिक्त एक अन्य खिलाड़ी ने भी उसे देखा और आनन्द अनुभव किया ।

एक दिन दोपहर के समय बिनोदा, कुसुम और नगेन्द्र ताश खेल रहे थे । कुछ क्षण उपरान्त कुसुम अपने रुग्ण-शिशु का क्रन्दन सुनकर उठ गई । नगेन्द्र विनोदा के साथ बातें करने लगा । परन्तु क्या बातें कर रहा था; इसे वह स्वयं भी नहीं समझ पा रहा था । रक्त का स्रोत उसके हृत्पिण्ड को उद्वेलित कर, उसके सम्पूर्ण शरीर-शिराओं में तरंगित हो उठा ।

अचानक ही एक बार उसके उद्दाम यौवन ने विनय (लज्जा) के सम्पूर्ण बाँधों को तोड़कर फेंक दिया ; अचानक ही विनोदा के दोनों हाथों को जोर से पकड़कर, उसे खींचकर उसका चुम्बन ले लिया । विनोदा नगेन्द्र कृत इस अपमान (निर्लज्जता) के कारण क्रोध, क्षोभ एवं लज्जा से अधीर हो, अपना हाथ छुड़ाने के लिये जब खींचतान कर रही थी; उसी समय उनकी आँखों के सम्मुख घर में तीसरे व्यक्ति का

आगमन हुआ । नगेन्द्र नतमस्तक हो, घर से बाहर जाने का मार्ग ढूँढ़ने लगा ।

दासी ने गंभीर स्वर में कहा—"बहूजी, आपको बुआजी बुला रही हैं ।" विनोदा छलछलाती आँखों से नगेन्द्र पर विद्युत्-कटाक्ष का बर्षण कर, दासी के साथ चली गई ।

दासी ने जो कुछ देखा था उसे संक्षिप्त एवं जो नहीं देखा था उसे वृहद् रूप देकर वैद्यनाथ के अन्तःपुर में एक तूफान खड़ा कर दिया । विनोदा की क्या दशा हुई, इस कथा को वर्णन करने की अपेक्षा कल्पना करना सहज है । वह कहाँ तक निरपराध है, इस सम्बन्ध में उसने किसी को भी समझाने की चेष्टा नहीं की, मस्तक झुकाये सब कुछ सह गई ।

वैद्यनाथ ने अपने भावी पिण्डदाता के आविर्भाव की कल्पना को अत्यन्त संशयास्पद जानकर विनोदा से कहा—"कलंकिनी ! तू हमारे घर से निकलकर दूर चली जा ।"

विनोदा शयनकक्ष के द्वार बन्द कर, बिछौने पर जा लेटी । उसके अश्रुहीन नेत्र मध्याह्न-काल की मरुभूमि के समान जल रहे थे । जब सन्ध्या का अन्धकार गहरा होगया और बाहर के बगीचे में कौए की बोली बन्द होगई, उस समय नक्षत्र-मण्डित शान्त आकाश की ओर देखते हुए उसके हृदय में माता-पिता की याद उठ आई और तब दोनों गालों पर बहते हुए आँसू गिरने लगे ।

उसी रात विनोदा अपने पति-गृह का त्याग कर गई । किसी ने उसकी खोज भी नहीं की ।

उस समय विनोदा यह नहीं जानती थी कि 'प्रजनार्थं महाभागा'* स्त्री जन्म का सौभाग्य उसने प्राप्त कर लिया है । उसके स्वामी की पारलौकिक सद्गति ने उसके गर्भ में आश्रय ग्रहण किया है ।

---

*स्त्री सन्तान उत्पन्न करने के लिए है ।

इस घटना के पश्चात् दस वर्ष व्यतीत हो गये ।

इस बीच वैद्यनाथ की आर्थिक अवस्था में बहुत उन्नति हो गई । इस समय वे छोटा गांव छोड़, कलकत्ते में बड़ा मकान ख़रीद कर रह रहे हैं ।

परन्तु उनका धन जितना बढ़ता, धन के उत्तराधिकारी के लिये प्राण उतने ही व्याकुल होने लगते थे ।

एक के बाद एक उन्होंने दो विवाह किये, उनसे पुत्र न जन्म कर, केवल कलह का जन्म होने लगा । ज्योतिषी, पण्डित, सन्यासी, अवधूतों से घर भर गया; गण्डे-ताबीज, मन्त्र, जल एवं पेटेन्ट औषधियों की वर्षा होने लगी । काली घाट में जितने छाग-शिशु (बकरी के बच्चे) मरे, उनके अस्थि-स्तूपों (हड्डियों का ढेर) के सम्मुख तैमूरलंग का कंकाल जयस्तम्भ धिक्कार के योग्य होता, परन्तु तब भी केवल कुछ हड्डियों एवं बहुत ही थोड़े माँस का बना एक छोटा सा शिशु वैद्यनाथ के विशाल प्रासाद के एक कोने पर अपना अधिकार करता हुआ दिखाई नहीं दिया । उसके वर्त्तमान (जीवित) न रहने पर कोई पराया लड़का उनका (वैद्यनाथ का) अन्न खायेगा, इस चिन्ता से उन्हें अन्न के प्रति अरुचि हो गई ।

वैद्यनाथ ने और भी एक स्त्री से विवाह किया—क्योंकि संसार में आशा का अन्त नहीं है और कन्या देने वालों के घर कन्याओं की भी कमी नहीं है ।

ज्योतिषियों ने जन्म-कुन्डली देख कर कहा—"इस कन्या के पुत्र-स्थान में ऐसा शुभ योग दिखाई देता है कि उससे वैद्यनाथ के घर सन्तान वृद्धि में और विलम्ब नहीं है ।" इसके पश्चात् ६ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु पुत्र स्थान के शुभ योग ने अपने आलस्य का परित्याग नहीं किया ।

वैद्यनाथ की निराशा से कमर झुक गई । अन्त में, शास्त्रज्ञ

पण्डितों के परामर्श से एक प्रचुर-व्ययसाध्य (बहुत खर्चीले) यज्ञ का आयोजन किया गया, उसमें बहुत समय तक बहुत से ब्राह्मणों की सेवा चलती रही ।

इधर उन्हीं दिनों देशव्यापी दुर्भिक्ष में बंगाल, बिहार और उड़ीसा अस्थि-चर्महीन हो उठे । जिस समय वैद्यनाथ अन्न के बीच बैठे हुए सोच रहे थे "हमारे अन्न को कौन खायेगा ?" उस समय समस्त भूखा देश अपनी सूनी थाली की ओर देखकर सोच रहा था— "क्या खायें ?"

ठीक उसी समय चार महीने का समय निश्चित कर, वैद्यनाथ की चतुर्थ पत्नी एक सौ ब्राह्मणों के पादोदक का पान कर रही थीं । एवं एक सौ ब्राह्मण प्रातःकाल प्रचुर अन्न एवं सन्ध्या को अपर्याप्त परिमाण में जलपान खाकर शकोरे, कुल्लड़ एवं दही-घृत से लिप्त केला के पत्तों द्वारा म्युनिसिपैलिटी की सड़कों को कूड़े से परिपूर्ण करने में लगे हुए थे । अन्न की गन्ध पाकर अकाल से कातर भूखे लोग झुण्ड के झुण्ड द्वार पर आ इकट्ठे होने लगे । उन्हें हर समय भगाते रहने के लिए अतिरिक्त द्वारपाल नियुक्त हुआ ।

एक दिन वैद्यनाथ के प्रस्तर-पण्डित दालान में एक बड़े पेट का सन्यासी दो सेर मोहन भोग एवं डेढ़ सेर दूध की सेवा में नियुक्त था, वैद्यनाथ कन्धे पर एक चादर डाले, हाथ जोड़े, एकान्त विनीत भाव से पृथ्वी पर बैठे, भक्ति में भर कर उसके पवित्र भोजन-व्यापार का निरीक्षण कर रहे थे । इसी समय किसी प्रकार द्वारपाल की दृष्टि बचा कर दुर्बल-शरीर बालक के साथ एक अति जीर्णकाय स्त्री ने घर में प्रवेश कर, क्षीण स्वर में कहा—"बाबू, दो रोटी दो ।"

वैद्यनाथ हड़बड़ा कर चीत्कार कर उठे—"गुरुदयाल ! गुरुदयाल !" चाल में मन्दता समझ कर स्त्री ने करुण स्वर में कहा—"अरे, इस बच्चे को दो रोटी दो । मैं कुछ नहीं चाहती ।"

गुरुदयाल ने आकर बालक और उसकी माता को भगा दिया। वह क्षुधातुर निरन्न बालक ही वैद्यनाथ का एकमात्र पुत्र था। एक सौ परिपुष्ट ब्राह्मण और तीन बलिष्ठ सन्यासी वैद्यनाथ को पुत्र-प्राप्ति की दुराशा से प्रलुब्ध (लुभा) कर उसका अन्न खाने लगे।

गिन्नी

★

छात्रवृत्ति क्लास से दो-तीन श्रेणी नीचे हमारे पण्डित थे शिवनाथ। उनकी मूँछ-दाढ़ी सफाचट, सिर के बाल छोटे और चोटी लम्बी थी। उन्हें देखते ही बालकों की अन्तरात्मा सूख जाती थी।

प्राणियों में देखा जाता है कि जिसके डङ्क होता है, उसके दांत कहीं नहीं होते। हमारे पण्डितजी महाशय में दोनों चीजें एकत्र थीं। इस ओर घूँसों, थप्पड़ों की हरे-भरे बगीचे के ऊपर शिला वृष्टि की भांति अजस्र-वर्षा होती; उस ओर तीव्र वाक्य-ज्वाला से प्राण बाहर निकलने को हो जाते।

वे आक्षेप करते प्राचीन काल जैसे गुरु-शिष्यों के सम्बन्ध अब नहीं रहे; आज के छात्र गुरु की देवता के समान भक्ति नहीं करते। यह कह कर वे अपनी उपेक्षित देव-महिमा को बालकों के मस्तक पर जोर से अंकित कर देते, एवं बीच-बीच में हुंकार दे उठते, परन्तु उसमें इतनी बात और सम्मिलित है कि उसे (हुँकार को) देवता के बज्रनाद का रूपान्तर कहने से किसी को भ्रम नहीं हो सकता। इन्द्र यदि बज्रनाद को सजा कर तर्जन-गर्जन करें, तो उससे क्षुद्र बंगाली मूर्ति का कोई बिगाड़ नहीं होगा।

जो भी हो, हमारे स्कूल के इन तृत्तीय श्रेणी के द्वित्तीय विभाग के देवता इन्द्र, चन्द्र, वरुण अथवा कार्त्तिकेय का भ्रम किसी को नहीं हो सकता; केवल एक ही देवता के साथ उनकी समानता मिलती है, उसका नाम है यम। और इतने दिनों बाद यह स्वीकार करने में कोई

दोष नहीं है और कोई भय भी नहीं है कि हम लोग मन ही मन यह कामना करते हैं कि वे उक्त देवता के घर (यमलोक) को जाने में अब और अधिक विलम्ब न करें।

किन्तु यह भली भाँति जाना जा चुका है कि नर-देवता से बड़ा और कोई नहीं है। सुरलोकवासी देवता उपद्रव नहीं करते। वृक्ष से एक फूल तोड़कर चढ़ा देने मात्र से वे प्रसन्न हो जाते हैं न चढ़ाने पर भी तकाजा करने नहीं आते। हमारे नर-देवतागण उनसे कहीं बहुत अधिक हैं और हमारी तिलभर त्रुटि होते ही अपने दोनों नेत्रों को रक्तवर्ण कर मारने को आते हैं, उस समय वे किसी भी देवता के समान दिखाई नहीं देते।

बालकों को पीड़ित करने के लिए हमारे शिवनाथ पण्डित का एक अस्त्र था, वह सुनने में अत्यन्त सामान्य, परन्तु वास्तव में अत्यन्त दारुण था। वे लड़कों का नया नामकरण करते थे। नाम-वस्तु में यद्यपि शब्द ही रहते और कुछ नहीं, परन्तु साधारणतः मनुष्य को स्वयं की अपेक्षा अपना नाम अधिक अच्छा लगता है; अपने नाम को देश में फैलाने के लिए लोग कौनसा कष्ट स्वीकार नहीं करते, यही क्यों। अपने नाम को पढ़वाने के लिए लोग अपना प्राण गँवाते हुए भी नहीं हिचकिचाते।

इस प्रकार नाम-प्रिय मनुष्य का नाम बिगाड़ देना उसके प्राणों से भी अधिक प्रिय स्थान पर आघात करना होता है। यही क्यों, जिसका नाम भूतनाथ हो, उसे नलिनीकान्त कहकर भी पुकारना असह्य लगता है।

इसलिए यह तत्व पाया जाता है कि मनुष्य वस्तु की अपेक्षा अवस्तु को अधिक मूल्यवान समझता है। स्वर्ण की अपेक्षा अपने स्वभाव, प्राणों की अपेक्षा सम्मान एवं स्वयं की अपेक्षा नाम ही उन को बड़ा लगता है।

मानव-स्वभाव के इस सम्पूर्ण अन्तर्निहित निगूढ़ नियम के

अनुसार पण्डित महाशय ने जब शशिशेखर को 'मेढ़की' का नाम दिया, तब वह अत्यन्त कातर हो उठा। विशेषकर उक्त नामकरण उसके चेहरे के प्रति विशेष लक्ष्य करके हुआ है, यह जानकर उसकी मर्मवेदना और दूने वेग से बढ़ उठी। फिर भी वह एकान्त शान्त भाव से सब कुछ सहन करता हुआ मौन साध कर बैठा रह गया।

आशु का नाम था गिन्नी, परन्तु उसके साथ एक इतिहास जुड़ा हुआ था।

बेचारा आशु कक्षा के बीच अत्यन्त भला लड़का था। किसी से कुछ नहीं कहता, बड़ा शर्मीला, आयु में सभी से छोटा जान पड़ता, सभी बातों में केवल कोमलता के साथ मुस्कुराता, खूब पढ़ाई करता, स्कूल के अनेक लड़के उसके साथ मित्रता करने के लिए लालायित रहते परन्तु वह किसी भी लड़के के साथ नहीं खेलता एवं छुट्टी होते ही क्षण भर का भी विलम्ब किये बिना घर चला जाता था।

दोने में थोड़ा सा मिष्ठान्न एवं काँसे की छोटी घंटी में जल लेकर जलपान के समय उसके मकान से एक दासी आया करती थी। आशु उसके लिए अत्यन्त लज्जित होता, दासी के किसी प्रकार घर लौट जाने पर जैसे वह बच जाता था। वह स्कूल के छात्र के अतिरिक्त और कुछ भी है, इस सम्बन्ध में स्कूल के लड़कों के सम्मुख कुछ भी प्रकट करने में वह बहुत अनिच्छुक रहता। उसके घर में कौन-कौन हैं, वह माता-पिता का लड़का है, वह भाई-बहिनों का भाई है, यह जैसे एक भारी गुप्त-कथा थी, इस पर अपने साथियों के समक्ष किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डालता था, यही उसकी एकान्त चेष्टा थी।

पढ़ने-लिखने के सम्बन्ध में उसकी और कोई त्रुटि नहीं थी, केवल किसी-किसी दिन कक्षा में आने में विलम्ब होजाने पर एवं शिवनाथ पण्डित द्वारा उसका कारण पूछे जाने पर उसके द्वारा ठीक उत्तर न दिये जाने के कारण बीच-बीच में उसकी लांछना की सीमा नहीं रहती। पण्डित उसको घुटनों के ऊपर हाथ रखवाकर, पीठ नीचे झुकवाकर, दालान की सीढ़ियों के समीप खड़ा कर देते थे; चारों कक्षाओं के

लड़कों को उस लज्जाकातर हतभाग्य बालक की यह अवस्था देखने को मिलती थी ।

एक दिन ग्रहण की छुट्टी थी । उसके दूसरे दिन स्कूल आकर चौकी पर बैठने के उपरान्त पण्डित महाशय द्वार की ओर देखने लगे । उस समय एक स्लेट और स्याही लगे कपड़े के थैले को, जिसमें पढ़ने की पुस्तकें रक्खी हुई थीं, लिये हुए, अन्य दिनों की अपेक्षा संकुचित-भाव से, आशु कक्षा में प्रवेश कर रहा था ।

शिवनाथ पण्डित ने सूखी हँसी हँसते हुए कहा—"यह गिन्नी आ रही है ।"

उसके उपरान्त पढ़ाई समाप्त होने पर छुट्टी से पूर्व, उन्होंने समस्त छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा—"सुनो, तुम सभी सुनो ।"

पृथ्वी की समस्त मध्याकर्षण शक्ति तेजी के साथ बालक (आशु) को नीचे की ओर खींचने लगी, परन्तु छोटा आशु उसी बेंच पर गर्दन और दोनों पाँव लटकाये हुए, कक्षा के समस्त बालकों का लक्ष्यस्थल बना हुआ, बैठा रहा अब तक आशु कई वर्ष का हो चुका है एवं उसके जीवन में अनेक बड़े-बड़े सुख-दुःख एवं लज्जा के दिन आये हैं इसमें सन्देह नहीं, परन्तु बालक-हृदय के इतिहास के उस दिन की तुलना किसी भी अन्य दिन से नहीं हो सकती ।

परन्तु बात बहुत छोटी है एवं दो वाक्यों में ही समाप्त हो जायेगी ।

आशु की एक छोटी बहिन थी । उसकी समवयस्क संगिनी अथवा बहिन और कोई नहीं थी, अतः वह आशु के साथ ही खेला करती थी ।

एक दरवाजे वाले लोहे की रेलिंग के बीच आशु के घर का गाड़ी-बरामदा (गाड़ी ठहरने का स्थान) था । उस दिन मेघों ने खूब वर्षा की थी । हाथ में जूता लिये, मस्तक पर छाता लगाये जो दो-चार पथिक मार्ग पर चल रहे थे, उन्हें किसी ओर रुकने का अवसर

नहीं मिल रहा था। मेघों के उस अन्धकार में, वर्षा के उस शब्द में, उस सम्पूर्ण दिन की छुट्टी में गाड़ी-बरामदे की सीढ़ियों पर बैठा हुआ आशु अपनी बहिन के साथ खेल रहा था।

उस दिन उसकी गुड़िया का ब्याह था। उसके आयोजन के सम्बन्ध में अत्यन्त गम्भीर भाव से व्यस्त आशु अपनी बहिन को उपदेश दे रहा था।

इस समय तर्क उठा, किसे पुरोहित बनाया जाय। बालिका झटपट उठ कर एक व्यक्ति के पास जाकर पूछने लगी—"क्यों जी, तुम हमारे पुरोहित जी बनोगे ?"

आशु ने पीछे घूम कर देखा, शिवनाथ पण्डित भीगे हुए छाते को बन्द कर, अधभीगी अवस्था में उसके गाड़ी-बरामदे में खड़े हुए हैं। वे मार्ग में चले जा रहे थे, वर्षा का उपद्रव होने से उन्होंने उस स्थान पर आश्रय लिया था। बालिका उन्हीं से गुड़िया का पौरोहित्य-निर्वाह करने का प्रस्ताव कर रही थी।

पण्डित महाशय को देखते ही आशु अपने खेल एवं बहिन-सबको छोड़ कर एक ही दौड़ में घर के भीतर अन्तर्ध्यान हो गया। उसकी छुट्टी का सम्पूर्ण दिन मिट्टी हो गया।

दूसरे दिन शिवनाथ पण्डित ने सूखी हँसी सहित इस घटना के भूमिका-स्वरूप को उल्लेख करते हुए सभी के समक्ष आशु का "गिन्नी" नामकरण किया, उस समय पहले उन्होंने जिस प्रकार समस्त कथा को मृदुभाव से हँसते हुए कहा था, उसी प्रकार हँसने लगे। चारों ओर से भी उनके कौतुक-हास्य में कुछ सहयोग देने की चेष्टा की गई। इसी समय कलेवा की घण्टी बजी, अन्य सभी कक्षाएँ भंग हो गईं। शाल के पत्तों पर दो मिठाइयाँ एवं चमकती हुई काँसे की घंटी में जल लिये हुए दासी आकर द्वार के समीप खड़ी हो गई।

उस समय हँसते-हँसते उसके मुख तथा कान लाल हो उठे, व्यथित मस्तक की शिराएँ फूल उठीं एवं आनन्दाश्रुओं के आने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी।

शिवनाथ पण्डित विश्रामगृह में जल-पान करके निश्चित मन से तम्बाकू खाने लगे। लड़के अत्यन्त प्रसन्न हो, आशु को घेर कर 'गिन्नी-गिन्नी' कहते हुए चीत्कार करने लगे। उस छुट्टी के दिन छोटी बहिन के साथ का वह खेल आशु को जीवन का एक सर्व-प्रधान लज्जाजनक भ्रम जान पड़ने लगा। पृथ्वी के लोग किसी समय उस दिन की बात को भूल जायेंगे—यह विश्वास उसके मन को नहीं हुआ।

आपद्

★

सन्ध्या काल समीप आते ही आंधी क्रमशः तीव्र होने लगी। वर्षा की बौछार, मेघों की गर्जन एवं बिजली की चमचमाहट से आकाश में जैसे सुर-असुरों का युद्ध छिड़ गया। काले-काले बादलों ने महाप्रलय की जय-पताका के समान इधर-उधर उड़ना प्रारम्भ कर दिया। गंगा के इस पार और उस पार विद्रोही-लहरों ने श्रेष्ठ-शब्द में नृत्य करना आरम्भ कर दिया एवं बगीचों के बड़े-बड़े वृक्ष अपनी समस्त शाखाओं को शीघ्रतापूर्वक हिलाते हुए, हायतोबा मचाने के समान, दाँये-बाँये लोटपोट होने लगे।

उस समय चन्दननगर के एक बगीचे के मकान क कक्ष में, जो दीपक से आलोकित था और जिसके दरवाजे बन्द थे, चारपाई के सामने ही नीचे बिछौने पर बैठे हुए दो स्त्री-पुरुषों में वार्त्तालाप चल रहा था।

शरत् बाबू कह रहे थे—"और कुछ दिन ठहरने पर तुम्हारा शरीर पूर्णतः स्वस्थ हो जायेगा, तभी हम देश को लौट सकेंगे।"

किरणमयी कह रही थी—"मेरा शरीर पूर्णतः स्वस्थ हो गया है। इस समय देश लौट चलने में कोई हानि नहीं होगी।"

सभी विवाहित व्यक्ति समझ सकते हैं कि बात को जिस प्रकार संक्षेप में रिपोर्ट किया गया है, उस प्रकार वह संक्षेप में समाप्त नहीं हुई होगी। विषय भी बहुत अधिक कठिन नहीं था, तो भी वाद-प्रतिवाद किसी निष्कर्ष की ओर आगे नहीं बढ़ रहा था; कर्णधार-

रहित नौका के समान वह बराबर एक ही स्थान पर घूम रहा था; अन्त में उसके अश्रु-तरंगों में डूब जाने की सम्भावना दिखाई देने लगी।

शरत् ने कहा--"डाक्टर कहता है--और कुछ दिन ठहरे रहना ठीक होगा।"

किरण बोली--"तुम्हारा डाक्टर तो सब जानता है।"

शरत् ने कहा--"जानती तो हो, इस समय देश में अनेक प्रकार की बीमारियों का प्रादुर्भाव हो रहा है, अतएव और एक-दो मास बिता कर जाना अच्छा रहेगा।"

किरण बोली--"तो यह समझना चाहिए कि यहाँ किसी को किसी प्रकार की बीमारी नहीं होती।"

प्रारम्भिक इतिहास इतना ही है। किरण को उसके घर एवं मुहल्ले के सभी लोग खूब चाहते हैं, इतना ही क्यों, सास तक भी। उसी किरण को जब कठिन पीड़ा हुई, तब सभी चिन्तित हो उठे और जब डाक्टर ने वायु-परिवर्त्तन का प्रस्ताव किया, तब घर एवं काम-धन्धे को त्याग कर प्रवास में जाने के लिए उसके स्वामी एवं सास किसी ने कोई आपत्ति नहीं की। यद्यपि गाँव के विवेकी एवं प्रवीण व्यक्तियों ने वायु परिवर्त्तन द्वारा आरोग्य की आशा करने एवं स्त्री के लिए इस प्रकार आकाश-पाताल मिलाने की नवीन-स्त्रैण्यता को एक निर्लज्जता अतिशयता कहकर स्थिर किया तथा प्रश्न किया कि क्या इससे पूर्व किसी की स्त्री को कठिन पीड़ा (बीमारी) नहीं हुई और शरत् ने जिस स्थान पर जाने का निश्चय किया है, उस स्थान के क्या सभी मनुष्य अमर हैं एवं ऐसा कौन सा देश है जहां अदृष्ट (विधाता) की लिपि सफल नहीं होती। तो भी शरत् एवं उसकी माँ ने इन सब बातों को अपने कानों में नहीं पड़ने दिया; उस समय गांव की समस्त ज्ञानराशि की अपेक्षा उन्हें अपनी हृदय लक्ष्मी किरण के प्राणों का मूल्य, उनके समक्ष अधिक जान पड़ा। प्रिय व्यक्ति की विपत्ति पर मनुष्य इसी प्रकार मोह में डूब जाता है।

शरत् चन्दननगर के बगीचे में आकर रह रहा है और किरण भी रोग-मुक्त हो चुकी है, केवल उसका शरीर अभी पूर्णतः सबल नहीं हुआ है। उसके मुख एवं नेत्रों पर एक करुणापूर्ण कृशता (कमजोरी) अंकित हो गई है, उसे देख कर कम्पित हृदय यह कह उठता है—"अहा बड़ी रक्षा प्राप्त हुई।"

परन्तु किरण का स्वभाव है संग-प्रिय (मिलनसार) और आमोद-प्रिय (विनोदी)। यहाँ उसे और अकेला रहना अच्छा नहीं लगता; उसके लिए यहाँ न तो घर का काम है, न मुहल्ले की साथिनें ही हैं; सारे दिन केवल अपने रुग्ण-शरीर को हिलाते-डुलाते रहने में ही उसका मन नहीं लगता। घण्टे-घण्टे भर में निशान देख कर औषधि पियो, सिकाई करो, पथ्य-पालन करो। इससे विरक्ति बढ़ चली है। आज आंधी की सन्ध्या में, बन्द घर में बैठे हुए पति-पत्नी के बीच इसी बात को लेकर आन्दोलन उपस्थित हो गया है।

किरण जब तक उत्तर दे रही थी, तब तक दोनों पक्षों में समानभाव से द्वन्द्व-युद्ध-सा चल रहा था, परन्तु अन्त में जब किरण निरुत्तर होकर, बिना प्रतिवाद किये, शरत् की ओर से किंचित् विमुख हो, गर्दन टेढ़ी कर के बैठ गई, उस समय दुर्बल निरुपाय पुरुष के पास और कोई अस्त्र नहीं रहा। वह पराजय स्वीकार करने का उपक्रम कर ही रहा था कि उसी समय बाहर से नौकर ने उच्च स्वर में कोई एक निवेदन किया।

शरत् ने उठ कर द्वार खोलते हुए सुना—'नौका डूब जाने से एक ब्राह्मण का बालक तैर कर उनके बगीचे में आ पहुँचा है।'

यह सुनकर किरण का मान-अभिमान दूर हो गया। उसी समय उसने अरगनी (वस्त्र टाँगने की डोरी) पर से सूखा वस्त्र उठा कर दे दिया और शीघ्र ही एक कटोरी दूध गरम करके, उस ब्राह्मण बालक को अन्तःपुर में (अपने पास) बुला भेजा।

बालक के केश बड़े थे नेत्र भी बड़े-बड़े थे, मूँछों की रेखायें अभी

नहीं उठी थीं। किरण ने उसे अपने पास बैठा कर, भोजन कराने के उपरान्त, उसका परिचय जानना चाहा।

सुना, वह यात्री-दल (नाटक-मण्डली) का लड़का है, उसका नाम नीलकान्त है। उसके निकटवर्त्ती सिंह बाबू के मकान में ही वह मण्डली नाटक खेलने के लिए आ रही थी। इसी बीच नौका डूब जाने से उसके दल के लोगों की क्या दशा हुई, इसे कौन जाने। वह अच्छी तरह तैरना जानता था, सो किसी प्रकार प्राण रक्षा कर सका है।

लड़का यहीं रह गया। एक इस बात से भी कि "वह मरते से बचा है" किरण के हृदय में उसके प्रति अत्यन्त दया का संचार हो उठा।

शरत् ने मन में सोचा—अच्छा हुआ; किरण को एक नवीन कार्य हाथ लग गया। अब कुछ समय इसी प्रकार कट जायेगा। ब्राह्मण-बालक के कल्याण से पुण्य-संचय की प्रत्याशा में सास को भी प्रसन्नता हुई तथा अधिकारी महाशय एवं महाराज के हाथ से सहसा ही इस धनी परिवार के हाथ में आ पड़ने से नीलकान्त भी विशेष आराम अनुभव करने लगा।

परन्तु कुछ समय बाद ही शरत् और उसकी माता के मन में परिवर्त्तन होने लगा। उन्होंने सोचा—"और आवश्यकता नहीं है, अब इस लड़के को विदा कर दिया जाय, तो आपत्ति दूर हो।"

नीलकान्त ने लुकछिप कर शरत् की गुड़गुड़ी (हुक्के) से फड़-फड़ शब्द करते हुए, तम्बाकू खींचना आरम्भ कर दिया था। बरसात के दिन वह निस्संकोच शरत् के रेशमी छाता को माथे पर लगा कर, नये मित्रों की खोज में, गांव में भ्रमण करने लग गया था। कहीं से उसने गाँव के एक गन्दे कुत्ते को आदर देकर इस प्रकार सिर पर चढ़ा लिया कि वह बिना बुलाये ही शरत् के सुसज्जित कमरे में घुस कर, स्वच्छ जाजम के ऊपर अपने चारों पद-पल्लवों की धूलि-रेखाओं द्वारा अपने शुभागमन के सम्बाद को स्थायी रूप से अंकित करने

के लिए आने लगा। देखते-देखते ही नीलकान्त के चारों ओर एक सुवृहत् शिशु-सम्प्रदाय संगठित होने लगा और उस वर्ष गाँव के आम के बगीचे में कच्चे आमों को पक कर उटने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ।

किरण इस बालक को बहुत अधिक आदर देती थी, इसमें सन्देह नहीं। शरत् और शरत् की माँ ने इस सम्बन्ध में उसे अनेक बार निषेध किया, परन्तु उसने उनकी बात नहीं मानी। शरत् के पुराने कुर्ते, मोजा एवं नई धोती, चादर, जूता पहनाकर, वह उसे बाबू की भाँति सजाकर बाहर भेजने लगी। बीच-बीच में जब-तब उसे बुलाकर उसके साथ स्नेह एवं कौतुक की बातें चरितार्थ करने लगी। किरण हँसती हुई पानदान को अपने पास रखकर चारपाई के ऊपर बैठी रहती, दासी उसके भीगे बालों को इधर-उधर करती हुई सुखाती रहती एवं नीलकान्त नीचे खड़ा हुआ, हाथ फैलाकर नल-दमयन्ती का अभिनय किया करता। इस प्रकार लम्बी दोपहरी बहुत शीघ्र कट जाती। किरण शरत् को उसके साथ एक ही आसन पर बैठाकर, दर्शक श्रेणी में सम्मिलित करने की चेष्टा करती, परन्तु शरत् अत्यन्त विरक्त रहता एवं शरत् के सम्मुख नीलकान्त की प्रतिभा भी सम्पूर्ण स्फूर्ति को प्राप्त नहीं कर पाती। सास किसी-किसी दिन ठाकुर देवता का नाम सुनने की आशा से आकर्षित होकर चली आया करतीं, परन्तु कुछ देर बाद ही उनकी चिर अभ्यस्त मध्याह्न-कालीन निद्रा का आवेश भक्ति से ऊपर छा जाता और उन्हें शय्या-शायिनी बना देता।

शरत् के द्वारा कान मला जाना एवं थपड़ खाना नीलकान्त के भाग्य में प्रायः बदाही रहता था परन्तु उससे भी अधिक कठिन शासन-प्रणाली का आजन्म-अभ्यास होने के कारण उसे किसी अपमान अथवा वेदना का बोध नहीं होता था। नीलकान्त की यह दृढ़ धारणा थी कि पृथ्वी के जल एवं स्थल विभाग की भाँति मानव-जन्म भी आहार एवं प्रहार में विभक्त है; उसमें भी प्रहार का अंश ही अधिक है।

नीलकान्त की ठीक आयु क्या थी, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है। यदि चौदह पन्द्रह की हो, तो आयु की अपेक्षा जीभ अधिक परिपक्व कही जायगी और यदि सत्रह-अठारह की हो तो आयु के अनुरूप जीभ तेज नहीं थी। इस प्रकार वह अकाल-पक्व, अन्यथा अकाल-अपक्व थी।

वास्तविक बात यह है कि वह बहुत छोटी आयु में ही नाटक-मण्डली के भीतर राधिका, दमयन्ती, सीता एवं विद्या की सखी सजता रहा है। अधिकारी की आवश्यकता के अनुरूप विधाता के वरदान से वह बहुत आगे तक बढ़ता चला गया, फिर उसकी वृद्धि रुक गई। सब उसे छोटे रूप में ही देखते और वह भी अपने को छोटा ही समझता, आयु के अनुरूप उचित सम्मान उसे किसी के पास से नहीं मिला। इन सब स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक कारणों के प्रभाव से वह सत्रह वर्ष की आयु के देखते हुए अपरिपक्व एवं चौदह वर्ष की आयु के अन्दाज से अत्यन्त परिपक्व दिखाई देता है। मूंछों की रेखाऐं न उठने के कारण यह भ्रम और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। तम्बाकू का धुंआ लगने के कारण अथवा आयु के अनुरूप बोली बोलने के कारण नीलकान्त के ओठों के पास कुछ अधिक परिपक्वता प्रतीत होती है, परंतु उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की पुतलियों में एक सारल्य और तारुण्य वर्तमान है। अनुमान किया जा सकता है कि नीलकान्त का भीतरी भाग स्वभावतः कच्चा है, परन्तु नाटक मण्डली की उष्णता लगकर ऊपरी भाग में परिपक्वता के लक्षण दिखाई देते हैं।

शरत्‌बाबू के आश्रय में चन्दन नगर के बगीचे में निवास करते-करते नीलकान्त के ऊपर स्वाभाविक नियम अव्याहत (बेरोक-टोक) भाव से अपना काम करने लगा। इतने दिनों तक जो वह अपनी वयः सन्धि के स्थल पर अस्वाभाविक रूप से बहुत समय तक रुका रहा था, यहाँ आकर वह समय उसे न जाने कब चुपचाप पार कर गया। उसकी सत्रह-अठारह वर्ष की आयु का वेष सम्पूर्ण रूप से परिलक्षित हो उठा।

उसका वह परिवर्तन बाहर से किसी के नेत्रों को दिखाई नहीं दिया, परन्तु उसका यह पहला लक्षण तब प्रकट हुआ कि जब किरण नीलकान्त के प्रति बच्चों जैसा व्यवहार करती, तब वह मन ही मन लज्जित एवं व्यथित होने लगा। एक दिन आमोद-प्रिय किरण ने उसे स्त्री-वेश में सखी बनकर सजने की बात कही, वह बात अचानक ही उसे अत्यन्त कष्टदायक प्रतीत हुई, फिर भी उसका उचित कारण ढूँढ़े नहीं मिल सका। आजकल यदि उसे नाटक की नकल दिखाने के लिए पुकारा जाय तो वह अदृश्य हो जाता है। वह एक निर्धन नाटकमण्डली के लड़के के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं है, यह बात उसके मन को तनिक भी स्वीकार नहीं होती।

यही क्यों, उसने मुनीमजी के समीप थोड़ा-थोड़ा करके लिखना-पढ़ना सीखने का संकल्प कर लिया है। परन्तु बहूजी का स्नेहभाव न होने के कारण नीलकान्त को मुनीमजी अपनी दोनों आँखों से नहीं देख सकते और मनकी एकाग्रता की रक्षा करते हुए, नीलकान्त से पढ़ने-लिखने का अभ्यास किसी भी समय नहीं हो सकता; उसकी आंखों के सामने से अक्षर भाग-भाग जाते हैं। गंगा के तट पर, चम्पा के वृक्ष के नीचे, वृक्ष के तने से पीठ लगाये, घुटनों के ऊपर पुस्तक रक्खे हुए, वह बहुत समय तक बैठा रहता; पानी छल्-छल् करता, नावें दौड़ी चली जातीं, डालियों के ऊपर चंचल अन्यमनस्क पक्षी किच्‌मिच् शब्दों में स्वयं ही अपनी उक्तियों का प्रकाश करते, उस समय नीलकान्त पुस्तक के पन्नों पर आंखें रक्खे हुए, क्या सोचा करता—यह वही जाने अथवा वह भी नहीं जानता। एक बात से दूसरी बात पर जा पहुँचना उसके लिए असम्भव था, तो भी "मैं पुस्तक पढ़ रहा हूँ" यह मन में विचार कर उसे बड़ा भारी आत्मगौरव अनुभव होता। जब कभी सामने होकर कोई नौका निकलती, उस समय वह और भी अधिक आडम्बर सहित पुस्तक उठाकर बिड़्-बिड़् करके पढ़ने का बहाना करता परन्तु दर्शक के चले जाने पर वह और अधिक पढ़ने के उत्साह की रक्षा नहीं कर पाता था।

पहले वह अपने अभ्यस्त गानों को यन्त्र के समान यथानियम गाता चला जाता था, अब उन्हीं गानों के स्वर उसके मन में एक अपूर्व चञ्चलता की सृष्टि कर देते हैं। गाने की कथा अत्यन्त सामान्य, तुच्छ अनुप्रास परिपूर्ण है, उसका अर्थ भी नीलकान्त को भली भांति समझ में नहीं आ पाता, परन्तु जब वह गाता है—

*"ओरे राजहंस जन्मि द्विज वंशे,
एमन नृशंस केन हलि रे—
बल् की जन्ये, ए अरण्ये,
राज कन्यार प्राण संशय करिल रे—"

उस समय वह जैसे सहसा लोकान्तर और जन्मान्तर में प्रवेश कर जाता हैं, उस समय चारों दिशाओं का अभ्यस्त संसार एवं उसका तुच्छ जीवन गीत में परिवर्तित होकर एक नवीन चेहरा (स्वरूप) धारण कर लेता है।

राजहंस और राज कन्या की कहानी से उसके मन में एक अपूर्व चित्र का आभास जम उठता, वह अपने मन में कैसा समझता, इसे स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता, परन्तु वह इस बात को भूल जाता कि वह नाटक मण्डली का एक मातृ-पितृहीन बालक है। नितान्त दरिद्र घर का हतभाग्य मलिन (गन्दा) शिशु जब सन्ध्या को शय्या पर सोते हुए राजपुत्र राजकन्या एवं सात राजाओं के धन-माणिक्य की कथा सुनकर, उस समय वह फटी गुदड़ी पर जीर्ण घर के सोने के अन्धकार में अपने मन के समस्त दारिद्रय एवं हीनत्व के बन्धन से मुक्त होकर, एक सर्व सुलभ रूप कथा के राज्य, एक नूतन स्वरूप, उज्ज्वल वेश एवं निराली क्षमता धारण कर लेता है, उसी प्रकार गीत के स्वरों

---

*अर्थ—अरे राजहंस, द्विज वंश में जन्म लेकर भी तू ऐसा नृशंस कैसे हो गया ? बोल, तू किसलिए इस वन में राजकन्या के प्राणों के प्रति संशय उत्पन्न कर रहा है ?

के बीच यह नाटक मण्डली का लड़का स्वयं को एवं अपने संसार को एक नवीन आकार में परिवर्तित कर लेता। उस समय जल की ध्वनि, पत्तों के शब्द, पक्षियों की पुकार एवं जिस लक्ष्मी ने इस लक्ष्मीहीन को आश्रय दिया है उसके सहास्य स्नेह मुख की छवि, उसकी कल्याणमय अलंकारयुक्त दोनों भुजाओं एवं दुर्लभ सुन्दर पुष्पदल के समान कोमल रक्तातापूर्ण युगल चरणों का एक माया-मन्त्र की भांति रागिनी के बीच रूपान्तरित हो जाते। किसी समय जब यह गीति-मरीचिका चल रही होती, नाटक मण्डली का नीलकान्त घुँघराले केशों का प्रकाश पा रहा होता, उसी समय आपके बगीचे के अध्यक्ष पड़ोसी की शिकायत पर शरत् आकर उसके गाल पर तड़-तड़ करके चाँटा जड़ देता और नीलकान्त बालक-भक्त-मण्डली का अधिनायक बन, जल, स्थल एवं वृक्षों की डालियों पर नये-नये उपद्रवों का सृजन करता हुआ भाग जाता।

इसी बीच शरत् का भाई सतीश कलकत्ता-कालेज की छुट्टी होने के कारण बगीचे में आ पहुंचा। किरण को बहुत प्रसन्नता हुई, उसके हाथ में एक काम और आ गया; वह उठते-बैठते, खाते-पीते में अपने समवयस्क देवर से हास-परिहास करने लगी। कभी वह हाथ में सिन्दूर भर कर उसकी आँखों को बन्द कर देती, कभी उसके कुर्ते के पीछे 'बन्दर' लिख देती, कभी चुपचाप बाहर से द्वार बन्द कर सुललित उच्च-हास्य करती हुई भाग जाती। सतीश भी छोड़ देने का पात्र नहीं था, वह उसकी चाभियाँ चुरा कर, उसके पान में मिर्च रख कर, चारपाई के पाये से चुपचाप उसके आँचल को बाँध कर बदला ले लिया करता। इस प्रकार दोनों के सभी दिन शोर-गुल, भगदड़, हँसी और यही क्यों, बीच-बीच में कलह, क्रन्दन, मनावन एवं पुनः शान्ति-स्थापन में व्यतीत होने लगे।

नीलकान्त को कौन सा भूत मिल गया, कौन जाने? वह किस बात को लेकर किसके साथ विवाद करे, यह समझ में नहीं आता, अस्तु, उसका मन तीव्र तीक्ष्णता से परिपूर्ण हो गया। वह अपने भक्त

बालकों को अनुचित रूप से रुलाने लगा, वह अपने पोषित कुत्ते को अकारण ही लाठी मार कर 'केंह-केंह' शब्द से आकाश-मण्डल को गुंजित कराने लगा। यही क्यों, मार्ग में भ्रमण करते समय वह तेजी के साथ वृक्षों में छड़ी मार कर उनकी डालियों को गिराता हुआ चलने लगा।

जो लोग अधिक खा सकते हैं, उन्हें अपने सामने बैठाकर खिलाने में किरण को बहुत अच्छा लगता है। बहुत खाने की शक्ति नीलकान्त में थी। स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थों के लिए बारम्बार खाने का अनुरोध उसके सामने प्राय: कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसीलिए किरण प्राय: उसे बुला कर एवं अपने पास बैठा कर खिलाया करती थी और इस ब्राह्मण बालक के तृप्तिपूर्वक आहार को देख कर उसे विशेष सुख का अनुभव होता था। सतीश के आगमन के बाद अवसर न मिलने के कारण नीलकान्त के आहार स्थल पर, बीच-बीच में किरण प्राय: अनुपस्थित रहने लगी। पहले इस प्रकार की घटना से उसे भोजन के समय कोई आपत्ति नहीं होती थी, सब कुछ खाने के पश्चात् दूध के कटोरे को भी जल से धोकर पिलाने के पश्चात् ही उठा करता था। परन्तु आजकल किरण द्वारा स्वयं पुकार कर न खिलाने से उसका हृदय व्यथित रहता है, उसके मुख का स्वाद नष्ट हो जाता है, वह बिना खाये ही उठ पड़ता है; वह रुँधे हुए कण्ठ से दासी से कह जाता है—"मुझे भूख नहीं है।" वह समझता, किरण समाचार को पाकर इसी समय अनुतप्त चित्त से उसे बुला भेजेगी एवं खाने के लिए बारम्बार अनुरोध करेगी, परन्तु वह किसी भी अनुरोध को स्वीकार न करके कहेगा—'मुझे भूख नहीं है।' किन्तु किरण को यह समाचार कोई नहीं देता, खाने का जो सामान होता उसे दासी खाकर समाप्त कर देती। उस समय वह अपने शयनगृह में दीपक बुझाकर अन्धेरे में बिछौने के ऊपर पड़ा हुआ सिसक-सिसक कर, फफक-फफक कर मुँह के ऊपर जोर से हथेली रखके रोता रहता। परन्तु उसका वश ही क्या है, किसके ऊपर उसका दबाव है, कौन उसे सान्त्वना देने के लिए आयेगा? जब कोई नहीं आता, तब स्नेहमयी जगन्माता निद्रा देवी आकर धीरे-धीरे अपने कोमल

कर-स्पर्श से इस मातृ-हीन व्यथित बालक के अभिमान को शान्त कर देतीं ।

नीलकान्त की दृढ़ धारणा हो गई कि सतीश किरण से उसकी चुगली सदैव खाया करता है । जिस दिन किरण किसी कारण वश गम्भीर बैठी होती उस दिन नीलकान्त अपने मन में सोचता — सतीश के षड्यन्त्र ने किरण को उसी के ऊपर क्रुद्ध कर रखा है ।

इन दिनों नीलकान्त हृदय में एक तीव्र आकांक्षा लिये हुए सदैव ही देवता के समीप यह प्रार्थना करता रहता है—'दूसरे जन्म में मैं सतीश के समान बनूँ और सतीश मेरा जैसा हो जाय ।' वह जानता है, ब्राह्मण द्वारा एकान्त चित्त से दिया हुआ अभिशाप कभी निष्फल नहीं होता, इसीलिए वह मन ही मन सतीश को ब्रह्म तेज से दग्ध करते हुए, स्वयं ही भस्म होने लगा एवं ऊपरी मंजिल में होने वाले सतीश और उसकी बड़ी भाभी के उच्छ्वासित एवं उच्च हास्य मिश्रित परिहास के सभी शब्दों को सुनता रहा ।

नीलकान्त प्रत्यक्ष रूप में सतीश से किसी प्रकार की शत्रुता करने का साहस नहीं करता, परन्तु अवसर पाकर उसके लिए छोटी-मोटी असुविधा उत्पन्न कर देने में उसे आनन्द आता था । घाट की सीढ़ियों पर साबुन रखकर सतीश जब गंगा में घुस कर डुबकी लगाना आरम्भ करता, उस समय नीलकान्त झटपट आकर साबुन की चोरी कर लेता था, सतीश जिस समय साबुन को आकर देखता, तो वहाँ साबुन नहीं होता । एक दिन नहाते-नहाते अचानक ही उसने देखा कि उसके विशेष शौक का चिकिन के काम का कुरता गंगाजल में बहा चला जा रहा है; सोचा हवा में उड़ गया होगा, परन्तु हवा में कहाँ से उड़ा, यह वह कुछ नहीं जान पाया ।

एक दिन सतीश को आनन्द प्रदान करने के हेतु किरण ने नीलकान्त को बुलाकर उससे मण्डली का गीत गाने के लिए कहा, नील-कान्त चुप होकर रह गया । किरण ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"इस

समय तुझे क्या होगया है रे ?" नीलकान्त ने उसका उत्तर नहीं दिया। किरण ने फिर कहा—"उस गीत को गा न।" "उसे मैं भूल गया"—कह कर नीलकान्त चला गया।

अन्त में किरण के घर लौटने का समय आया। सभी तय्यार होने लगे, सतीश भी संग जायेगा। परन्तु नीलकान्त से किसी ने कोई बात नहीं कही। वह संग जायगा या रुकेगा, यह प्रश्न भी किसी के मन में नहीं उठा।

किरण ने नीलकान्त को साथ ले चलने का प्रस्ताव किया। उसकी सास, पति एवं देवर सभी इस बात पर आपत्ति कर उठे, तब किरण ने भी उस विचार को त्याग दिया। अन्त में यात्रा के दो दिन पूर्व किरण ने ब्राह्मण-बालक को बुलाकर, उसे स्नेह पूर्ण शब्दों में अपने देश लौट जाने का उपदेश किया।

वह ऊपर ही ऊपर कई दिनों के बाद मीठे शब्दों को सुनकर और नहीं रुक सका, एक बार में ही रो उठा। किरण की आँखें भी छलछला उठीं; जिसे सदैव के लिए अपने पास नहीं रक्खा जा सकता उसे कुछ दिन के लिये सम्मान देकर उसको माया में फँसा देना अच्छा नहीं है—यह विचार कर किरण को मन ही मन बहुत उत्ताप हुआ।

सतीश समीप ही उपस्थित था; वह इतने बड़े लड़के का रोना देख, अत्यन्त विरक्त (नाराज) होकर बोल उठा—'अरे लड़के ! कोई बात नहीं, कोई चीत नहीं, इस प्रकार रो क्यों रहा है ?'

किरण ने इस कठोर-कथन के लिए सतीश की भर्त्सना की। सतीश ने कहा—"तुम नहीं समझतीं, बड़ी भाभी ! तुम सभी का बहुत विश्वास करती हो। यह कौन कहाँ का है कुछ ठिकाना नहीं, यहाँ आकर बड़े राजा की भाँति रह रहा है। अब 'पुनर्मूषकोभव' होने की आशंका से आज यह रोकर द्रवित करना चाहता है और यह भी अच्छी तरह जानता है कि आंसू की दो बूंदें देख कर ही तुम पिघल जाओगी।

नीलकान्त तुरन्त चला गया किन्तु उसका मन सतीश की

काल्पनिक मूर्ति को छुरी से काटने लगा, सुई बन कर चुभाने लगा, अग्नि होकर जलाने लगा। परंतु वास्तविक सतीश के शरीर में उसका एक भी दाग नहीं बना, केवल उसके स्वयं के मर्मस्थल से ही रक्तपात होने लगा।

कलकत्ता से सतीश एक सोफियाना कलमदान खरीद कर लाया था। उसके दोनों पार्श्व में दो सीप की नावों के ऊपर दावात बनी हुई थीं एवं बीच में एक जर्मन सिल्वर का हंस अपनी खुली हुई चोंच में कलम लेकर पंख फैलाये बैठा था। उसके प्रति सतीश अत्यन्त सावधानी रखता, प्रायः वह बीच-बीच में सिल्क के रूमाल से प्रयत्न पूर्वक उसकी बड़ी झाड़-पोंछ किया करता था। किरण प्रायः ही परिहास करने के लिए उस रौप्य-हंस की चोंच के अग्रभाग में उँगली का आघात करती हुई कहा करती—"ओ रे राजहंस, जन्मि द्विज वंशे, एमन नृशंस केन हँलि रे" (अरे राजहंस ! द्विज वंश में जन्म लेकर भी तू इतना नृशंस कैसे हो गया ?) और इसी को लक्ष्य बना कर देवर के साथ उसका हास्य कौतुक एवं वाग्युद्ध चला करता।

स्वदेश-यात्रा के एक दिन पूर्व प्रभातकाल में वह वस्तु (कलमदान) ढूंढ़ने पर भी नहीं मिल सकी। किरण ने हँसी में कहा—"देवर जी ! तुम्हारा राजहंस तुम्हारी दमयन्ती को ढूंढ़ने के लिए उड़ गया है।"

परन्तु सतीश आग-बबूला हो उठा। नीलकान्त ने ही उसकी चोरी की है, इस सम्बन्ध में उसे तनिक भी सन्देह नहीं रहा—विगत सन्ध्या के समय उसे सतीश के कमरे के समीप घूमते हुए देखा गया था, इस प्रकार के साक्षी मिल गये।

सतीश के सम्मुख अपराधी लाया गया। वहाँ किरण भी उपस्थित थी। सतीश पहली बार में ही उससे कह उठा—"तूने हमारी दवात चुरा कर कहाँ रख दी है; ला दे।"

नीलकान्त ने विभिन्न अपराधों पर एवं बिना किसी अपराध के भी शरत् के द्वारा अनेक बार मार खाई है एवं उसने सदैव प्रफुल्ल चित्त से

उसे स्वीकार किया है। परन्तु किरण के सम्मुख जब उसके नाम के साथ दवात चोरी का अपराध लगाया गया, तब उसके दोनों बड़े-बड़े नेत्र अग्नि के समान जलने लगे; उसकी छाती का खून फूल कर कण्ठ में आ अटका; सतीश द्वारा एक बात और कहे जाने पर वह अपने दोनों हाथों के दसों नखों सहित क्रुद्ध बिल्ली के बच्चे के समान सतीश के ऊपर टूट पड़ता।

उस समय किरण उसे बगल वाले कमरे में ले जाकर मृदु एवं मधुर स्वर में बोली—"नीलू, यदि वह दवात तेरे पास है तो तू उसे मुझे चुपचाप दे दे, तुझ से कोई कुछ नहीं कहेगा।"

नीलकान्त की आंखें फट गईं और टप्-टप् करके आँसू गिरने लगे, अन्त में वह मुँह ढाँक कर रोने लगा।

किरण ने बाहर आकर कहा—"नीलकान्त ने कभी नहीं चुराया है।"

शरत् और सतीश दोनों ही बोल उठे—"निश्चित है—नीलकान्त को छोड़ कर और किसी ने चोरी नहीं की।"

किरण ने जोर से कहा—"कभी नहीं।"

शरत् ने नीलकान्त को बुलाकर प्रश्न करने की इच्छा की। किरण ने कहा—"नहीं, उससे इस चोरी के सम्बन्ध में कोई बात नहीं पूछ सकेंगे।"

सतीश ने कहा—"उसके घर और बक्स को खोल कर देखना ठीक रहेगा।"

किरण बोली—"यदि ऐसा करोगे तो मैं तुम से जन्म भर नहीं बोलूँगी। निर्दोषी के प्रति किसी भी प्रकार का सन्देह प्रकट नहीं कर सकते।"

कहते-कहते उसके नेत्र रूपी पत्तों के दोनों कोने जल से भीग उठे। तदुपरांत उन दोनों करुण नेत्रों के अश्रुजल की दुहाई मान कर नीलकान्त क प्रति अन्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया।

निरीह आश्रित बालक के प्रति इस प्रकार के अत्याचार से किरण के मन में अत्यन्त दया का संचार हो उठा। वह दो जोड़ी फराश डांगा की धोती चादर, दो कुर्ते, एक जोड़ी नये जूते एवं एक दस रुपये का नोट लेकर, सन्ध्या के समय नीलकान्त के घर के भीतर प्रविष्ट हुई। उसकी इच्छा थी, नीलकान्त से कहे बिना, उस स्नेह-उपहार को चुपचाप उसके बक्स के भीतर रख आयेगी। टीन का बक्स भी उसी का दिया हुआ था।

आँचल से चाबी का गुच्छा निकाल कर उसने बिना किसी शब्द के बक्स को खोला, परन्तु उसमें उपहारों को नहीं रक्खा जा सकता था। बक्स में लटाई (पतंग उड़ाने का डोरा लपेटने की चर्खी), कांच की गोलियाँ, कच्चा आम काटने के लिए लोहे की पत्ती का चाकू, टूटे हुए काँच के गिलासों की पेंदियां आदि अनेक प्रकार की वस्तुऐं उसमें स्तूपाकार रक्खी हुई थीं।

किरण ने सोचा, बक्स को अच्छी प्रकार संवार कर लगाने से उसमें सभी वस्तुऐं रक्खी जा सकेंगी। इसी उद्देश्य से वह बक्स को खाली करने लगी। पहले लटाई, गुल्ली, छुरी आदि वस्तुऐं बाहर निकलीं, तदुपरान्त अनेकों मैले और धुले हुए कपड़े बाहर हुए, तत्पश्चात् सभी के नीचे अचानक ही सतीश का वही बड़े यत्नपूर्वक राजहंस शोभित कलमदान बाहर निकल आया।

किरण आश्चर्यचकित हो, आरक्त-मुख से बहुत देर तक उसे हाथ में लेकर विचार करती रही।

इसी बीच नीलकान्त ने पीछे से घर के भीतर कब प्रवेश किया, इसे वह जान भी न सकी। नीलकान्त ने सब कुछ देखा, मन में सोचा— किरण स्वयं चोर की भांति उसकी चोरी को पकड़ने के लिए आई है और उसकी चोरी पकड़ी भी गई है। उसने सामान्य चोर की भाँति लोभ में पड़ कर चोरी नहीं की थी। उसने केवल बदला चुकाने के आशय से ही इस कार्य को किया था, उसने इस वस्तु को गंगाजल में फेंक देने का निश्चय किया था, केवल कुछ समय की दुर्बलता के

वशीभूत होकर ही उसे न फेंक कर अपने बक्स में रख दिया था, वह इस सब बात को किस प्रकार समझा सकेगा। वह चोर नहीं है, वह चोर नहीं है, तब वह क्या है ? वह किस प्रकार बतायेगा कि वह कौन है ? उसने चोरी की है, परन्तु वह चोर नहीं है; किरण ने जो उसे चोर कह कर सन्देह किया है, इस निष्ठुर अन्याय को वह किसी भी प्रकार नहीं समझ सकेगा, इसे ढो भी नहीं सकेगा।

किरण ने एक दीर्घ निःश्वास फेंक कर उस कलमदान को बक्स के भीतर रख दिया। चोर की भांति उसके ऊपर मैले कपड़े ढँक दिये, उसके ऊपर बालक की लटाई, गुल्ली, डंडा, छुरी, कांच के टुकड़े आदि सब वस्तुओं को रख दिया एवं सब के ऊपर अपने उपहार एवं दस रुपये के नोट को सजा कर रख दिया।

परन्तु दूसरे दिन उस ब्राह्मण बालक का कोई पता नहीं लगा। गाँव के लोगों ने कहा—'उसे नहीं देखा;' पुलिस ने कहा—'उसका पता नहीं चला;' उस समय शरत् ने कहा—'इस बार नीलकान्त के बक्स की परीक्षा करके देखना चाहिए।

किरण जिद करती हुई बोली—"उसमें कुछ नहीं होगा।" यह कह कर किरण उस बक्स को अपने घर में ले आई और उसमें से कलमदान को बाहर निकाल कर, उसे चुपचाप गंगाजल में फेंक आई।

शरत् सपरिवार देश चला गया, बगीचा एक दिन सूना हो गया; केवल नीलकान्त का वही पोष्य ग्राम्य-कूकर, आहार त्याग कर, नदी के किनारे-किनारे, घूमता-घूमता, ढूँढ़ता-ढूँढ़ता, रोता-रोता बेचैन दिखाई देता है।

दान-प्रतिदान

★

'बड़ी बहू के जो वाक्य हैं, वे बाण के समान जितने तीक्ष्ण हैं उतने ही कटु भी। जिस अभागे के ऊपर उनका प्रयोग हुआ है, उसका हृदय रह-रह कर जल उठता है।' यह बात विशेष रूप से उसने पति को लक्ष्य करके कही थी। जब राधामुकुन्द रात का भोजन करके थोड़ी ही दूर पर पान के साथ ताम्रकूट धूऐं के द्वारा खाद्य परिपाक में प्रवृत्त थे तभी उन्होंने बड़ी बहू के मुँह से खरी-खोटी सुनी। इस पर वे विशेष विचलित नहीं हुए तथा गंभीरता के साथ ताम्रकूट समाप्त करके नित्य की भाँति सोने चले गये।

परन्तु इस प्रकार की सहनशीलता की सभी लोगों से आशा नहीं की जाती थी। रासमणि ने शयन-कक्ष में पति से ऐसा बर्ताव किया, जैसा उनसे कहने-करने का उसने कभी भी साहस नहीं किया था। और दिनों की भांति आज उसने पति की पद-सेवा नहीं की। आज जाते ही वह शैया पर एक ओर पड़ कर रोने लगी।

राधामुकुन्द कोई भी ध्यान न देकर सोने का प्रयत्न करने लगे, परन्तु उनकी यह उदासीनता पत्नी के अधैर्य को और भी बढ़ा रही थी। यह देख कर वे बोले—"मुझे सुबह जल्दी उठना है, इसलिये सोना आवश्यक है।"

स्वामी के इस कंठ-स्वर से रासमणि का क्रन्दन उमड़ पड़ा। राधामुकुन्द ने पूछा—"क्या बात है?" रासमणि उत्कंठित स्वर में बोली—"क्या सुना नहीं?"

"सुना तो है परन्तु बड़ी बहू ने तो हर बात सच ही कही है। मेरा क्या भैया के अन्न से पालन नहीं हुआ है ? तुम्हारे यह कपड़े गहने इत्यादि क्या मैं अपने पिता के घर से लाया हूँ ? जो खाने-पहनने को देता है, उसे भी खाने-पीने में सम्मिलित कर लेना चाहिये।"

"परन्तु ऐसे खाने-पहनने से क्या लाभ ?"

"जीवित तो रहना ही है।"

"इससे तो मृत्यु हो जाय, वह अच्छा है।"

"जब तक पैसा नहीं आ रहा, तब तक सोने का प्रयत्न करो, आराम मिलेगा।" यह कह कर राधामुकुन्द उपदेश तथा दृष्टान्त के सामंजस्य-साधन में प्रवृत्त हो गये।

राधामुकुन्द एवं शशिभूषण खास भाई नहीं हैं, यहाँ तक कि निकट का संबन्ध भी नहीं है, केवल गाँव का सम्पर्क कहा जा सकता है। परन्तु प्रेम-बन्धन खास भाई से कम नहीं है। बड़ी बहू व्रजसुन्दरी को यह सहन नहीं था। हालांकि शशिभूषण किसी का पक्षपात नहीं करते थे। वे जो छोटी बहू को देते थे, वही बड़ी बहू को भी देते थे। परन्तु जिस वस्तु का एक जोड़ा नहीं मिलता था, वह बड़ी बहू को न देकर छोटी बहू को ही देते थे। इसके सिवाय वे स्त्री के अनुरोध की अपेक्षा राधामुकुन्द से अधिक परामर्श लेते थे। शशिभूषण कमजोर थे, इसलिये अधिकतर राधामुकुन्द ही सब काम-काज करता था। बड़ी बहू इसे सदैव सन्देह की दृष्टि से देखती कि राधामुकुन्द उसके स्वामी को रोकने की योजना बना रहा है। परन्तु जब उनका सन्देह झूठ सिद्ध होता तो उनका क्रोध राधामुकुन्द पर उतरता। उनकी यह क्रोधाग्नि बीच-बीच में वाक्यों के कटु-प्रहारों द्वारा ज्वालामुखी की भाँति फूट पड़ती थी।

यह कहा नहीं जा सकता कि राधामुकुन्द रात को पूरी तरह सो पाये या नहीं, परन्तु सुबह उठते ही शशिभूषण के पास जाकर खड़े हो

गये। शशिभूषण बोले—"राधा ! आज तुम ऐसे क्यों हो रहे हो ? क्या तुम्हारी तबियत ठीक नहीं ?"

राधामुकुन्द ने धीरे-धीरे मृदु स्वर में कहा—"भैया ! यहाँ अब तो मेरा रहना नहीं हो सकता।" यह कह कर उन्होंने पिछली शाम की सारी घटना सुना दी।

शशिभूषण ने हँस कर कहा—"यह बात है ? यह तो कोई नवीन घटना नहीं है। वे तो दूसरों के घर की स्त्रियाँ हैं। अवसर पाते ही दो-चार बातें कहेंगी ही। इससे क्या अपने आदमी को घर त्याग करके चला जाना चाहिये ? मुझे भी तो बीच-बीच में सुननी पड़ी हैं, परन्तु उनके कारण मैं परिवार को छोड़ कर थोड़े ही चला जाऊँगा ?"

राधामुकुन्द बोले—"मैं क्या औरत की बात नहीं सुन सकता, परन्तु पुरुष होकर जन्म लेने से क्या लाभ ? मुझे भय लगता है कि कहीं मेरे कारण तुम्हारे घर की शान्ति भंग न हो।"

शशिभूषण बोले—"तुम तो चले जाओगे, परन्तु मुझे शान्ति कैसे मिलेगी ?"

इसके पश्चात् और अधिक बातें नहीं हुई। राधामुकुन्द धीरे-धीरे उठ कर चले गये। उनके हृदय का भार पहिले की तरह ही बना रहा।

इधर बड़ी बहू का क्रोध धीरे-धीरे बढ़ रहा है। उसे जब भी अवसर मिलता है, राधामुकुन्द को दो-चार खरी-खोटी सुना देती है। रासमणि को भी अपने वाक्य-बाणों से व्यथित कर देती है। राधा-मुकुन्द भी उसी प्रकार चुपचाप बैठकर तम्बाकू पीते हैं तथा स्त्री को चीखते-चिल्लाते ही देखते जाते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है अब उनको भी यह सब बातें सहन नहीं हैं।

परन्तु उनका शशिभूषण से आज का संबन्ध नहीं है—दोनों ही भाई एक साथ गुरूजी की पाठशाला में पढ़े हैं तथा कभी-कभी आपस में

परामर्श करके वे स्कूल से भाग कर ग्वालों के साथ खेलते भी रहे हैं। वे दोनों ही बिछौने पर सोकर मौसी से कहानी सुना करते थे, घर के लोगों से छिप कर रात को नाटक देखने जाते तथा प्रातः पकड़े जाने पर समान रूप से दंडित होते थे। तब कहाँ थीं वृजसुन्दरी तथा रासमणि। जीवन के इतने संबंधों को क्या एक ही दिन में तोड़ा जा सकता है? परन्तु यह बन्धन स्वार्थपरता का बन्धन है, यह प्रीति परान्प्रत्यर्पण का उद्गम है। इसका आभास-वाक्य ही विष के समान लगता है। परन्तु इसी समय एक घटना घटित हुई। मैं जिस समय की बात कह रहा हूँ, उस समय नियत दिन के सूर्यास्त के पहिले यदि सरकारी लगान नहीं दिया जाता तो जमींदार की सम्पत्ति नीलाम कर ली जाती थी।

एक दिन खबर मिली कि शशिभूषण की जमींदारी नीलाम हो गई। राधामुकुन्द अपने स्वाभाविक स्वर में बोले—"इसमें दोष मेरा ही है।"

इस पर शशिभूषण ने कहा—"भैया, इसमें तुम्हारा क्या दोष है? तुमने तो लगान भेज ही दिया था, परन्तु उसे रास्ते में डाकुओं ने लूट लिया। इसमें तुम्हारा क्या दोष हो सकता है? इस समय तो परिवार के पालन करने की चिन्ता करनी है। व्यर्थ में यह सोचना कि दोष किसका है, समय बरबाद करना है।" शशिभूषण सहसा कुछ करेंगे ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। वे मानो तालाब की फिसलनी सीढ़ी से फिसल कर गिर पड़े। शशिभूषण पत्नी के गहनों को बन्धक रखने के लिये तैयार हो गये। परन्तु उसी समय राधामुकुन्द ने एक थैली रुपयों की लाकर उनके सम्मुख रख दी। उन्होंने पहिले ही पत्नी के गहनों को बन्धक रख कर रुपया एकत्रित कर लिया था।

परिवार में एक बड़ा भारी परिवर्तन आया। गृहिणी जिसे भले समय में अलग करने पर तुली हुई थी, विपत्तिकाल में उसे ही ग्रहण करना पड़ा। उस समय दोनों भाइयों में से किस पर निर्भर रहा जा सकता है, उन्हें यह समझते देर न लगी। वे अब बिलकुल नहीं सोचतीं कि राधामुकुन्द के प्रति उनका कभी विद्वेष था।

राधामुकुन्द पहिले ही स्वतन्त्र रूपसे जीविकोपार्जन करने के लिये तैयार हो चुके थे। पास के ही शहर में वे मुख्तारी करने लगे थे। धीरे-धीरे वहां उनका काम जम गया और उन्हें बड़े-बड़े जमींदारों के यहाँ से कार्य मिलने लगा।

अब रासमणि की हालत पहिले से बहुत भिन्न थी। अब शशि-भूषण और बृजसुन्दरी रासमणि के अन्न से ही प्रतिपालित हैं। उसने इस बात को लेकर कभी गर्व किया या नहीं, यह तो ज्ञात नहीं; परन्तु किसी दिन उसने बड़ी बहू की इच्छा के विरुद्ध कुछ कहा था। लेकिन वह केवल एक दिन के लिये ही कहा था, दूसरे दिन से छोटी बहू पहिले से भी अधिक नम्र हो गई; क्योंकि वह बात राधामुकुन्द के कानों में पहुंच गई थी। उसी रात में राधामुकुन्द ने छोटी बहू को उसके पिता के घर पहुँचाने का प्रबन्ध कर दिया था तथा सात दिन तक उसका मुख नहीं देखा था। अन्त में, बृजसुन्दरी ने पति-पत्नी की विनती करके मिलन करवाया था।

राधामुकुन्द परिवार के व्यय के लिये सारा रुपया बृजसुन्दरी को दे देते थे। रासमणि अपनी आवश्यकतानुसार बड़ी बहू से ले लिया करती। घर में बड़ी बहू की इज्जत पहिले से भी अधिक थी।

शशिभूषण के मुँह की हँसी तो पहिले जैसी ही थी परन्तु वे भीतरी बीमारी से प्रतिदिन कमजोर होते जा रहे थे। यह सब और किसी ने नहीं देखा था, केवल रासमणि रात को जाग कर देखती कि राधामुकुन्द भैया का चेहरा देख कर दीर्घश्वास लेते हुए करवटें बदल रहे हैं। राधामुकुन्द शशिभूषण को धीरज बँधाते—"भैया, तुम्हें कोई चिन्ता नहीं। अब अधिक देर नहीं है। मैं तुम्हारी पैतृक सम्पत्ति लौटा लाऊँगा।" इस बात में वास्तव में अधिक देर नहीं लगी। जिसने शशिभूषण की जमींदारी नीलाम में खरीदी थी, वह वास्तव में व्यवसायी था। जमींदारी के काम से बिलकुल अनभिज्ञ था। यह जमींदारी उसने केवल सम्मान के लिये ही खरीद ली थी, परन्तु लगान उसे घर से ही

देना पड़ता था । उसे जमींदारी से बिलकुल भी लाभ नहीं होता था । राधामुकुन्द वर्ष में एक-दो बार लठैतों को साथ लेकर लगान लूट कर ले आते थे । प्रजा भी उनका मान करती थी । व्यवसायी-जमींदार को सब घृणा की दृष्टि से देखते थे । जमींदारी की समस्त प्रजा राधा-मुकुन्द के परामर्श से व्यवसायी-जमींदारी के विरुद्ध व्यवहार करने लगी । अन्त में वह बेचारा इस झंझट से निष्कृति के लिये उत्सुक हो उठा । राधामुकुन्द ने थोड़ी ही सी कीमत में अपनी पहिली सम्पत्ति खरीद ली ।

दस वर्ष व्यतीत हो गये । इन दस वर्षों में शशिभूषण अन्तर्सूक्ष्म मानसिक वाष्पयान पर आरूढ़ होकर मानो वार्धक्य के बीचोबीच पहुँच गये थे । वे पैतृक सम्पति पाकर इतने प्रसन्न नहीं हुये । अनेक बार के व्यवहार से हृदय-वीणा विकल हो गई, अब बार-बार तार खींचने पर भी उसमें से पहले जैसा स्वर नहीं निकलेगा ।

जमींदारी के गाँव के लोगों ने प्रसन्नता प्रगट की । वे सब शशि-भूषण से भोज का आयोजन करने के लिये कहने लगे । शशिभूषण ने इस विषय में राधामुकुन्द से परामर्श लिया ।

राधामुकुन्द बोले—"अवश्य, इस शुभ-अवसर पर अवश्य आनन्दोत्सव मनाना चाहिये ।"

भोज का आयोजन किया गया । गाँव में इस प्रकार का भोज कभी नहीं हुआ था । गाँव का प्रत्येक व्यक्ति निमन्त्रित किया गया था । ब्राह्मणों को दक्षिणा तथा गरीबों को वस्त्र भोजनादि दिया गया । वे सब आशीर्वाद देते हुये चले गये ।

शीतकाल के आरम्भ में मौसम कुछ खराब था । उस पर भी तीन दिन तक भोज रहा । इसमें शशिभूषण ने अत्यन्त प्रयत्न किया था । उनका कमजोर शरीर इस परिश्रम को सहन नहीं कर सका । वे बीमार हो गये । उन्हें कँपकँपी के साथ बुखार आने लगा । वैद्य ने कहा—"रोग असाध्य है ।"

राधामुकुन्द रात के दूसरे-तीसरे प्रहर में रोगी के घर से सब

को बाहर निकाल कर बोले—"भैया, आपकी अनुपस्थिति में सम्पत्ति का कितना किस को देना पड़ेगा—मुझे इस बारे में बताइये ?"

शशिभूषण ने कहा—"भाई, मेरे पास क्या है जो मैं किसी को दूँ ?"

राधामुकुन्द बोले—"यह सभी तो आपका है ।"

शशिभूषण ने कहा—"एक समय यह अवश्य मेरा था, परन्तु अब कुछ नहीं है ।"

राधामुकुन्द बहुत देर तक शान्त बैठे रहे, परन्तु जब शशिभूषण को श्वास लेने में कष्ट होने लगा तब उन्होंने उनके पैर पकड़ कर कहा—"भैया, मैंने जो घोर पाप किया, वह और कह दूँ, क्योंकि अब और तो समय मिलेगा नहीं ।"

शशिभूषण चुप रहे । राधामुकुन्द ने उसी स्वाभाविक शान्त भाव से बीच-बीच में एक दीर्घ श्वास छोड़ते हुए कहा—"भैया, मुझमें इतनी क्षमता नहीं है कि मैं सब बातें भली प्रकार कह सकूँ । मेरे मन का यथार्थ भाव केवल भगवान जानते हैं । पृथ्वी पर और कोई नहीं जान सकता । बचपन से मेरे और तुम्हारे हृदय में कोई भेद-भाव नहीं था । यदि भेद था तो केवल बाहर का । तुम धनी और मैं गरीब था । मैंने इस सामान्य कारण से अपने और तुम्हारे बीच संबन्ध-विच्छेद की भावना देखी तो स्वयं ही उस भेद को मिटा दिया । मैंने ही तुम्हारा लगान लुटवा कर तुम्हारी सम्पत्ति नीलाम करवा दी थी ।" यह सुनकर शशिभूषण जरा भी विस्मित न हुए । वे बोले—"भाई, तुमने यह अच्छा ही किया था । परन्तु जिस लिये तुमने ऐसा किया था, उसमें सफलता नहीं मिली । तुम अपने पास क्या रख पाये ? हे दयामय भगवान् ।"

शशिभूषण के प्रशान्त मृदु-हास्य के ऊपर दोनों नेत्रों के दो अश्रु-विन्दु टपक पड़े ।

राधामुकुन्द उनके पैरों पर अपना मस्तक रख कर बोले—"भैया ! मुझे क्षमा कर दिया या नहीं ?" शशिभूषण ने उन्हें पास बुला कर

हाथ पकड़ कर कहा—"भाई, मैं यह बात पहिले से ही जानता था। जिन लोगों के साथ मिलकर तुमने यह षड्यन्त्र किया था, उन्हीं लोगों ने मुझे सब कुछ बतला दिया था। मैंने तो तुम्हें उस समय क्षमा कर दिया।"

राधामुकुन्द अब दोनों हाथों से मुँह ढँक कर रोने लगे। बहुत देर के बाद वे बोले—"भैया, यदि मुझे क्षमा कर दिया है तो अपनी यह सम्पत्ति तुम्हीं ग्रहण करो। इसे रुष्ट होकर मत लौटाओ।"

शशिभूषण के मुँह से कोई उत्तर न निकला—उनकी बोलने की शक्ति लुप्त हो गई थी। उन्होंने राधामुकुन्द की ओर अनिमेष दृष्टि से देख कर अपना दाहिना हाथ उठाया। इसका क्या अर्थ हुआ—यह समझ में नहीं आया। परन्तु सम्भवतः राधामुकुन्द समझ गये थे।

शुभदृष्टि

★

कान्तिचन्द्र की आयु कम है, फिर भी स्त्री-वियोग के पश्चात् दूसरी स्त्री की खोज से ध्यान हटा कर उन्होंने पशु-पक्षियों के शिकार में मन लगाना आरम्भ कर दिया है। दीर्घ (लम्बा), कृश (पतला), कठिन (कठोर), लघु (छोटा) शरीर, तीक्ष्ण (पैनी) दृष्टि, अव्यर्थ लक्ष्य, वेषभूषा पश्चिम-निवासियों के समान है, साथ ही साथ पहलवान हरीसिंह, छक्कनलाल एवं गाने-बजाने वाले खाँ साहब, मियाँ साहब अनेक लोग घूमते रहते हैं; अकर्मण्य अनुचर-परिचरों का भी अभाव नहीं है।

दो-चार शिकारी बन्धु-बान्धवों को साथ लेकर, अगहन के महीने में कान्तिचन्द्र नईदिग्घी की नदी के किनारे शिकार करने गये हैं। नदी में दो बड़े बोट पड़े हैं, उनमें ठहरे हैं। ग्राम-बधुओं का जल भरना, स्नान करना प्रायः बन्द है। सम्पूर्ण दिन बन्दूक की आवाज से जल-स्थल काँपते रहते हैं, सन्ध्या के समय उस्तादों की गलेबाजी, तान-कर्तब से गांव की निद्रा-तन्द्रा भाग जाती है।

एक दिन सवेरे कान्तिचन्द्र बोट में बैठे हुए बन्दूक की नली को यत्नपूर्वक अपने हाथ से साफ कर रहे थे। इसी समय समीप ही बतख की आवाज सुन कर उस ओर देखा, एक बालिका दोनों हाथों से दो जवान बत्तखों को छाती से चिपकाये हुए घाट पर लाई है। नदी छोटी थी, प्रायः स्रोतहीन, अनेकों प्रकार की वनस्पतियों से भरी हुई। बालिका दोनों बतखों को पानी में छोड़ कर, कहीं काबू से बाहर न

चली जायें, यह सोच कर, बड़े सतर्क स्नेह से उन्हें घेरे रहने की चेष्टा कर रही थी। इससे समझा गया, और दिन वह अपनी बत्तखों को पानी में छोड़ कर चली जाती थी, परन्तु अब शिकारियों के भय से निश्चिन्तता पूर्वक छोड़ कर नहीं जा सकती है।

लड़की का सौन्दर्य एकदम नया है, जैसे विश्वकर्मा ने उसे अभी-अभी बना कर छोड़ दिया है। आयु का अन्दाज लगाना कठिन है। शरीर विकसित है परन्तु मुख ऐसा कच्चा है कि संसार ने कहीं से भी जैसे उसे लेशमात्र भी स्पर्श न किया हो। उसने जिस यौवन में पदार्पण किया है, इस समय भी स्वयं के समीप यह खबर उसे नहीं पहुँच पाई है।

कान्तिचंद्र क्षण भर के लिए बन्दूक साफ करने में ढील दे बैठे। उसकी चमक लग गई। इस स्थान पर ऐसे मुख को देखने की बात की कभी भी आशा नहीं की थी। अथच, राजा के अन्तःपुर की अपेक्षा इसी जगह पर यह मुख अच्छा लगता है। सोने की फूलदानी की अपेक्षा वृक्ष ही फूल को सजाता है। उस दिन शरद्-ऋतु की शीत में एवं प्रभात की धूप में नदी तट पर विकसित कासबन झल-मल कर रहा था, उसी के बीच उस सरल, नवीन मुखड़े ने कान्तिचंद्र की मुग्ध आँखों में आश्विन मास के आगमन की एक आनन्द छवि अङ्कित कर दी। मन्दाकिनी के तट पर युवा पार्वती कभी-कभी इसी प्रकार हंस (बतख) के बच्चों को छाती से लगा कर आती थीं, कालिदास यह बात लिखना भूल गये थे।

इसी समय अचानक ही लड़की भयभीत हो रुआँसे-रुआँसे मुख से झटपट बतखों को गोद में उठा कर अव्यक्त आर्त्त-स्वर में (दबी आवाज से चीखती हुई) घाट को त्याग कर चल दी। नवीनचंद्र ने कारण की खोज में बाहर आकर देखा—उनका एक रसिक पारषद कौतुक करके बालिका को भय दिखाने के लिए बत्तखों की ओर खाली बन्दूक का निशाना लगा रहा था। कान्तिचन्द्र ने पीछे से बन्दूक छीन

कर हठात् उसके गाल पर ताड़ से एक जोर के तमाचे का आघात किया, अचानक रस भंग हो जाने से वह आदमी उसी स्थान पर धमाके के साथ बैठ गया। कान्ति पुन: कमरे में आकर बन्दूक साफ करने लगे।

उसी दिन तीसरे प्रहर के समय ग्राम-मार्ग की घनी छाया में होता हुआ शिकारियों का दल खेती की ओर चल दिया। उनमें से एक व्यक्ति ने बन्दूक की आवाज कर दी। कुछ दूरी पर बाँस की झाड़ियों के ऊपर से कुछेक पक्षी आहत होकर छटपटाते हुए भीतर की ओर गिर पड़े।

कौतूहली कान्तिचन्द्र ने पक्षियों की खोज में झाड़ियों को पार करते हुए भीतर जाकर देखा, एक सुखी गृहस्थ का घर है, आँगन में जगह जगह धान के ढेर लगे हैं। परिच्छन्न (पत्तों से छाये गये) विशाल गोआलघर (गोशाला) के वटवृक्ष के नीचे बैठी हुई सबेरे वाली वही लड़की एक आहत घुग्घू को छाती से चिपकाये हुए, सासें लेती हुई रो रही है एवं गमले के पानी में अंचल भिगो कर पक्षी की चोंच में जल डाल रही है। पालतू बिल्ली उसकी गोद के ऊपर दोनों पांव रक्खे, मुँह उठाये घुग्घू की ओर उत्सुकता पूर्वक देख रही है; बालिका बीच-बीच में उसकी नाक के अगले भाग पर तर्जनी का आघात करके लुब्ध-जन्तु के अतिरिक्त आग्रह का दमन कर देती है।

गाँव के निस्तब्ध मध्याह्न में एक गृहस्थ के आँगन की सुखपूर्ण शांति के बीच यह करुण छवि एक क्षण में ही कान्तिचन्द्र के हृदय के बीच अंकित हो गई। कम पत्तों वाले वृक्ष की छाया और धूप बालिका की गोद में आकर पड़ रही थी; समीप ही उसकी परितृप्त परिपुष्ट गाय आलस्य पूर्वक मिट्टी पर बैठी हुई सींग और पूँछ हिलाकर पीठ की मक्खियाँ उड़ा रही थी; बीच-बीच में बांस के पेड़ों से कानाफूँसी की बात के समान नवीन उत्तरीवायु से खस्–खस् शब्द उठ रहा था। उस दिन सबेरे नदी के तट पर बन के बीच जिसे वनश्री के समान देखा गया था, आज मध्याह्न में निस्तब्ध घर के आँगन की छाया में उसी को स्नेह-विगलित गृहलक्ष्मी की भाँति देखा गया।

कान्तिचंद्र बन्दूक हाथ में लिए अचानक ही इस व्यथित बालिका के सामने आकर अत्यन्त कुण्ठित हो गये। मन को लगा,'जैसे माल सहित चोर पकड़ लिया गया हो।'

'यह पक्षी मेरी गोली से आहत नहीं हुआ है', किसी प्रकार यह कैफियत देने की इच्छा हुई। किस तरह बात छेड़ी जाय यह सोच रहे थे, इसी समय कुटीर में से किसी ने पुकारा-"सुधा।" बालिक जैसे चकित हो उठी। फिर पुकार आई—"सुधा।" तब वह झटपट पक्षी को लेकर कुटीर के दरवाजे की ओर चली गई। कान्तिचन्द्र ने सोचा—'नाम उपयुक्त ही है। सुधा।'

कान्ति उस समय दल के लोगों के हाथ बन्दूक सौंप कर सदर-मार्ग से उस कुटीर के दरवाजे पर आ उपस्थित हुए। देखा, एक प्रौढ़ वयस्क मुण्डमुण्ड शान्तमूर्ति ब्राह्मण बरामदे में बैठा हुआ 'हरि भक्ति विलास' का पाठ कर रहा है। भक्ति मण्डित उसके मुख के सुगभीर स्निग्ध प्रशान्त भाव के साथ, कान्तिचन्द्र उस बालिका के दयार्द्र मुख का सादृश्य अनुभव करने लगे।

कान्ति ने उन्हें नमस्कार करके कहा- "ठाकुर, प्यास लगी है, एक घंटी जल पा सकूँगा क्या?"

ब्राह्मण ने उन्हें झटपट अभ्यर्थना करते हुए बैठाया एवं भीतर से पीतल की रकाबी में कुछ बतासे एवं काँसे की घंटी में जल लाकर अपने हाथ से अतिथि के सम्मुख रख दिया।

कान्ति के जल पीने के बाद ब्राह्मण ने उनका परिचय प्राप्त किया। कान्ति ने परिचय देते हुए कहा-"ठाकुर, आपका कोई उपकार कर सकूँगा तो कृतार्थ होऊँगा।"

नवीन रांडुज्जे ने कहा—"बेटा, मेरा और क्या उपकार करोगे? तो भी सुधा नामक मेरी एक कन्या है, उसकी आयु हो चली है, उसे एक सत्पात्र को दे पाने पर संसार के ऋण से मुक्ति प्राप्त

कर लूंगा । समीप ही कोई अच्छा लड़का नहीं दीखता, दूर ढूँढ़ने जाने की सामर्थ्य नहीं है । घर में गोपीनाथ की मूर्ति है, उन्हें छोड़ कर कहीं भी नहीं जाता ।"

कान्ति ने कहा—"आप नौका पर मेरे साथ साक्षात् (मुलाकात) करें तो पात्र के सम्बन्ध में बातचीत करूंगा ।"

इधर कान्ति द्वारा भेजे गये दूतों ने वन्द्योपाध्याय की कन्या सुधा की बाबत जिस किसी से पूछताछ की, सभी ने एक ही वाक्य कहा—"ऐसी लक्ष्मी-स्वभाव कन्या और नहीं होगी ।"

दूसरे दिन नवीन बोट पर उपस्थित हुए, कान्ति ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम की एवं बताया, वे स्वयं ही ब्राह्मण की कन्या से विवाह करने के इच्छुक हैं । ब्राह्मण इस असंभव सौभाग्य को देख कुछ देर तक बात ही नहीं कह पाया । मन में सोचा—शायद कोई भ्रम हो गया है । बोला—"मेरी कन्या से तुम विवाह करोगे ?"

कान्ति ने कहा—"यदि आपकी सम्मति हो, मैं प्रस्तुत हूँ ।"

नवीन ने फिर जिज्ञासा की—"सुधा से ?" उत्तर सुना —"हां ।"

नवीन ने स्थिर भाव से कहा—"तो देख-सुन—"

कान्ति, जैसे देखी न हो, ऐसा प्रकट करते हुए बोले—"वह एक ही बार, शुभदृष्टि के समय ।"

नवीन ने गद्-गद् कण्ठ से कहा—"मेरी सुधा बड़ी सुशीला लड़की है, भोजन आदि घर-गृहस्थी के काम में अद्वितीय । तुम जैसे बिना देखे ही विवाह करने को प्रस्तुत हो गये हो, वैसे ही मैं आशीर्वाद देता हूँ, कि मेरी सुधा पतिव्रता सती लक्ष्मी होकर चिरकाल तक तुम्हारा मंगल करे । कभी एक क्षण के लिये भी तुम्हारे परिताप का कारण न बने ।"

कान्ति ने और विलम्ब करना नहीं चाहा, माघ के महीने में ही विवाह होना स्थिर हो गया ।

मुहल्ले के मजूमदारों की पुरानी पक्की कोठी विवाह का स्थान

निश्चित हुई। दूल्हा हाथी पर चढ़, जलती हुई मशालों एवँ बजते हुए बाजों के साथ यथासमय आ उपस्थित हुआ।

शुभदृष्टि के समय वर ने कन्या के मुख की ओर देखा। नत-मस्तक, चुनरीपहने चन्दन-चर्चित सुधा को ठीक प्रकार से जैसे देखा नहीं जा सका। उद्वेलित हृदय आनन्द से आँखें जैसे चौंधिया गईं।

वर के घर में मुहल्ले की सरकारी भाभी ने जिस समय वर के हाथ से जबर्दस्ती लड़की का घूँघट खुलवा दिया, उस समय कान्ति अचानक ही चौंक उठे।

यह तो वही लड़की नहीं है। अचानक छाती के पास से एक काले रंग के वज्र ने निकल कर उनके मस्तिक पर जैसे आघात किया, क्षणभर में वर के घर के सभी दीपक जैसे अँधकार पूर्ण हो गये एवं उसी अँधेरे की बाढ़ ने वधू के मुख को भी जैसे कालिमा से पोत दिया।

कान्तिचन्द्र ने दूसरा विवाह न करने की कह कर मन ही मन प्रतिज्ञा की थी; वही प्रतिज्ञा क्या इस प्रकार एक अद्भुत परिहास के द्वारा भाग्य ने तोड़ कर नष्ट करदी! कितने अच्छे-अच्छे विवाह के प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिये, कितने आत्मीय बन्धु-बान्धवों के सविनय अनुरोध की अवहेलना की; उच्चकुलों से सम्बन्ध के आकर्षण, धन के प्रलोभन, रूपख्याति का मोह, सब को ठुकरा कर अन्त में किसी अज्ञात गाँव में नहर के किनारे एक अज्ञात दरिद्र के घर में इतनी बड़ी विडम्बना! लोगों के समक्ष मुँह किस प्रकार दिखा सकेंगे?

पहले श्वसुर के ऊपर क्रोध आया। 'पाखंडी ने एक लड़की दिखाकर दूसरी लड़की के साथ मेरा विवाह कर दिया।' परन्तु सोच कर देखा, नवीन उन्हें विवाह के पहले कन्या दिखाना नहीं चाहता था, ऐसा नहीं है, वे स्वयं ही देखने को तय्यार नहीं हुए थे। बुद्धि के दोष से जो इतनी बड़ी ठगी हो गई थी, उस लज्जा की बात को किसी के समक्ष प्रकट न करना ही श्रेयस्कर अनुभव किया।

औषधि तो किसी तरह निगल गये, परन्तु मुँह का स्वाद बिगड़

गया। वर के घर की हँसी, आनन्द कुछ भी उन्हें नहीं रुचा। स्वयं के एवं सर्व साधारण के प्रति क्रुद्ध होने से उनका सर्वांग जलने लगा।

इसी समय अचानक ही उनके समीप बैठी हुई वधू दबी हुई और डरी हुई आवाज के साथ चौंक उठी। अचानक उसकी गोद के ऊपर होता हुआ एक खरगोश का बच्चा निकल गया। दूसरे ही क्षण उसी दिन वाली वही लड़की खरगोश के बच्चे का पीछा करती हुई वहाँ आ पहुँची और उसे पकड़ कर अपने गालों पर रखती हुई एकान्त-स्नेह से आदर करने लगी। "अरे पगली आ गई" कह कर सब लोग उसे चले जाने के लिये इशारा करने लगे। वह और भ्रू निक्षेप तक न करती हुई ठीक वर-वधू के सम्मुख बैठ कर, शिशु के समान 'क्या कौतूहल हो रहा है' यह देखने लगी। घर की किसी दासी द्वारा उसे हाथ पकड़ कर खींच लेने की चेष्टा करते समय वर ने अकुलाते हुए कहा—"अरे, ठहरो न, बैठी रहने दो।"

लड़की से पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

वह उत्तर न देकर हिलने लगी।

घर की सभी स्त्रियाँ हँस उठीं।

कान्ति ने फिर पूछा—"तुम्हारी दोनों बत्तखें कितनी बड़ी हो गईं?"

लड़की बिना किसी संकोच के चुपचाप उनके मुँह की ओर देखने लगी।

हतबुद्धि कान्ति ने साहस पूर्वक फिर जिज्ञासा की—"तुम्हारा वह घुग्घू अच्छा तो हो गया?" कोई फल नहीं पाया। स्त्रियाँ इस प्रकार हँसने लगीं, जैसे वर बहुत ठगा गया हो।

अन्त में पूछने पर पता चला, लड़की गूँगी और बहरी है, मुहल्ले के सभी पशु-पक्षियों की प्रिय-संगिनी है। उस दिन वह जो सुधा की पुकार सुन कर, उठ कर घर चली गई थी, वह उनका अनुमान मात्र था; उसका कारण और ही कोई था।

कान्ति उस समय मन-ही-मन चौंक उठी। जिससे वञ्चित होकर पृथ्वी पर उनके लिए कोई सुख नहीं था, सौभाग्य से उसी के पास से परित्राण पाकर अपने को धन्य समझ उठे। मन में सोचा—"यदि इस कन्या के पिता के पास जाता एवं वह व्यक्ति मेरी प्रार्थना के अनुसार कन्या को किसी प्रकार मेरे हाथ सौंप कर छुट्टी प्राप्त करता ?"

जिस समय हाथ से निकली हुई इस कन्या का मोह उनके चित्त को विह्वल कर रहा था, उसी समय वे अपनी वधू के सम्बन्ध में बिल्कुल अन्धे हो गये थे। आस-पास और कहीं भी कुछ सान्त्वना का कारण था या नहीं—उसकी खोज करके देखने की प्रवृत्ति भी नहीं थी। जब सुना कि लड़की गूँगी और बहरी है, तो जैसे सम्पूर्ण संसार के ऊपर ढँका हुआ एक काला पर्दा खुल कर गिर पड़ा। दूर की आशा दूर होकर समीप की वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो उठीं। बहुत बड़े घुटकोर की निःश्वास फेंक कर, कान्ति ने लज्जावनत वधू के मुख की ओर कोई एक सुयोग पाकर देख लिया। इसी समय यथार्थ शुभदृष्टि हुई। चर्म चक्षुओं की ओट में छिपे हुए मन के नेत्रों के ऊपर से समस्त बाधा हट कर दूर जा पड़ी। हृदय से तथा दीपकों से सम्पूर्ण प्रकाश छिटकता हुआ एक मात्र कोमल, सुकुमार मुख के ऊपर प्रतिफलित हो उठा। कान्ति ने देखा—एक स्निग्ध श्री, एक शान्त लावण्य से मुख भरा हुआ है। समझ गये—नवीन का आशीर्वाद सार्थक होगा।

समाप्ति

★

पहला परिच्छेद

अपूर्वकृष्ण बी० ए० पास करने के उपरान्त कलकत्ता से अपने देश को लौट रहा था।

नदी छोटी सी है, वर्षा की समाप्ति पर प्रायः सूख-सी जाती है। अभी श्रावण का महीना है, इसलिये वह जल से भरी हुई गाँव की सीमा एवं बांस की झाड़ियों का चुम्बन करती हुई तेजी से बह रही है।

बहुत दिनों तक घोर वर्षा होने के उपरान्त आज मेघमुक्त आकाश में धूप दिखाई दे रही है।

नौका पर बैठे हुए अपूर्वकृष्ण के मन के भीतर की एक तस्वीर यदि दिखाई देती तो यह देखा जाता कि वहाँ की मानस-नदी नवीन-वर्षा द्वारा लबालब भरी हुई है और उस नदी का पानी प्रकाश से झिलमिल एवं वायु से छप्-छप् कर रहा है।

नाव यथास्थान घाट पर आ लगी। नदी के किनारे से अपूर्व के मकान की छत किनारे के पेड़ की ओट से दिखाई दे रही है। अपूर्व के आगमन का सम्वाद घर में किसी को नहीं ज्ञात है, इसलिये घाट पर कोई आदमी उसे लेने नहीं आया। मल्लाह जब बैग उठाने के लिये उद्यत हुआ तो अपूर्व उसे मना करके स्वयं ही बैग को अपने हाथ में ले, आनन्द मग्न हो, झटपट नीचे उतर पड़ा।

नीचे उतरते ही अपूर्व नदी के किनारे की फिसलन पर अपने बैग सहित कीचड़ में गिर पड़ा। जिस समय वह गिरा, उसी समय कहीं से

एक मीठे उच्च-कंठ की तरल-हास्य-लहरी ने उच्छ्वासित हो, निकटवर्ती पीपल के वृक्ष पर बैठी हुई चिड़ियों को चकित कर दिया।

अपूर्व अत्यन्त लज्जित हो, झटपट अपने को संभाल कर उस ओर देखने लगा। देखा—किनारे पर जहां महाजन की नाव से उतार कर नई ईंटें इकट्ठी रखी गई हैं, उनके ऊपर बैठी हुई एक लड़की इस समय हँसते-हँसते बिखरी चली जा रही है।

अपूर्व ने पहिचान लिया। वह उनकी नई पड़ोसिन की लड़की मृण्मयी है। पहिले इन लोगों का घर यहाँ से बहुत दूर बड़ी नदी के तट पर था। दो-तीन वर्ष हुए तब नदी की बाढ़ के कारण वे अपना गाँव छोड़ कर यहाँ आकर रह उठे हैं।

इस लड़की के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से निन्दा सुनने में आती है। गाँव के पुरुष इसे स्नेह में भर कर पगली कहते हैं, परन्तु गाँव की गृहणियाँ इसके उच्छृंखल स्वभाव से सदैव भयभीत, चिन्तित एवं शंकान्वित बनी रहती हैं। गांव के बालकों के साथ ही उसका खेल होता रहता है। समवयस्क लड़कियों के प्रति उसकी अवज्ञा की कोई सीमा नहीं है। बच्चों के राज्य में यह लड़की एक प्रकार से शत्रु पक्षी सेना के उपद्रव के समान जान पड़ती है।

पिता की लाड़िली लड़की ठहरी, इसीलिये इसका ऐसा दुर्दान्त प्रताप था। इस सम्बन्ध में मृण्मयी की मा अपनी सखियों के सम्मुख अपने पति के विरुद्ध कभी भी अभियोग लगाते हुए नहीं चूकती। फिर भी पिता इसे बहुत लाड़ करते हैं, पिता के सम्मुख होने पर मृण्मयी की आँखों के आंसू उनके हृदय में बहुत ही व्यथा पहुँचाते हैं, इसे स्मरण कर प्रवासी-स्वामी का स्मरण करती हुई मृण्मयी की मा लड़की को किसी भी प्रकार रुला नहीं सकती।

मृण्मयी देखने में साँवली है, छोटे घुँघराले बाल पीठ पर पड़े रहते हैं। उसके चेहरे का भाव ठीक छोटे शिशु के समान है—दोनों बड़ी-बड़ी आँखों में न लज्जा है, न भय है और न हावभाव की लीलाओं

का लेशमात्र ही है । शरीर लम्बा, परिपुष्ट, स्वस्थ और सबल है । उसकी आयु अधिक है अथवा कम—यह प्रश्न किसी के भी मन में नहीं उठता । यदि उठता तो 'अब तक भी अविवाहित है,' कह कर उसके माता-पिता की निन्दा करते । जब कभी गाँव के विदेशी जमींदार की नौका घाट पर आकर लगती है, उस दिन गाँव के लोग आवभगत की तैयारी में घबरा से जाते हैं । गांव की स्त्रियों की मुख-रंगभूमि पर नासिका के अग्रभाग तक यवनिका पड़ जाती है, परन्तु मृण्मयी न जाने कहाँ से एक नंग-धड़ंग शिशु को गोद में लेकर अपने घुँघराले बालों को पीठ पर बिखेरे हुए घाट पर आ खड़ी होती है । जिस देश में कोई शिकारी नहीं, विपत्ति नहीं, उस देश के मृगशावक के समान निर्भीक-कौतूहल से खड़ी हुई टकटकी लगाये देखती रहती है । अन्त में अपने दल के बाल-संगियों के समीप पहुँच कर, इस नवागत प्राणी के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक वर्णन करती है ।

हमारे अपूर्व ने इससे पूर्व छुट्टियों के उपलक्ष में घर आकर इस बन्धन-हीन बालिका को दो-चार बार देखा है, एवं अवकाश के समय, यहां तक कि काम के समय भी, इसके सम्बन्ध में विचार किया है । पृथ्वी पर अनेकों चेहरे दिखाई देते हैं, परन्तु कोई-कोई चेहरा ऐसा होता है कि एक बार में ही मन के भीतर ऐसा पैठ जाता है कि फिर बाहर नहीं निकलता । ऐसा केवल सौन्दर्य के कारण ही नहीं होता, उसका एक अन्य गुण भी होता है; वह गुण होता है सम्भवतः स्वच्छता । अधिकांश चेहरों पर मनुष्य-प्रकृति अपना पूर्ण रूप से प्रकाश नहीं डाल पाती । जिस चेहरे पर हृदयवासी रहस्यमय व्यक्ति बिना किसी बाधा के बाहर निकलता हुआ दिखाई देता है, वह मुख सहस्रों के बीच नेत्रों के सम्मुख आ जाता है एवं एक पल में ही मन पर अंकित हो जाता है । इस बालिका के मुख पर एवं आँखों में एक चंचल एवं ढीठ नारी-प्रकृति उन्मुक्त वेगवान् वन-मृग के समान सदैव दिखाई देती है, खेलती रहती है; इसलिये इस सजीव-चंचल-मुख को एक बार देख लेने पर सहज ही नहीं भुलाया जा सकता ।

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि मृण्मयी की सकौतुक हास्य-ध्वनि चाहे जितनी सुमधुर हो, परन्तु अभागे अपूर्व के लिये वह कुछ क्लेशदायक ही हुई। वह शीघ्रतापूर्वक मल्लाह के हाथ में बग देकर आरक्त-मुख एवं द्रुत-वेग से अपने घर की ओर उन्मुख हो चलने लगा।

प्रकृति की तैयारियाँ अत्यन्त सुन्दर थीं; नदी का तट, वृक्षों की छाया, पक्षियों के गीत, प्रभात-कालीन धूप और बीस वर्ष की आयु, अवश्य ही ईंटों का ढेर इनके समान उल्लेखनीय नहीं, परन्तु जो व्यक्ति उसके ऊपर बैठा था, वह इस शुष्क एवं कठिन-आसन के प्रति भी एक मनोरम शोभा का विस्तार कर रहा था। हाय, ऐसे दृश्य के बीच प्रथम-पदक्षेप में ही जिसका समस्त कवित्व प्रहसन में परिणित हो जाय, उसके समान भाग्य की निष्ठुरता और क्या हो सकता है?

दूसरा परिच्छेद

उस ईंट के ढेर के ऊपर से बहती हुई हास्य-ध्वनि को सुनते-सुनते, चादर और कीचड़ से सने हुए बैग को लिये हुए, वृक्षों की छाया के नीचे होता हुआ अपूर्व अपने घर जा पहुँचा।

अकस्मात् ही पुत्र के आगमन से उसकी विधवा माता पुलकित हो उठी। उसी क्षण दूध, दही और मछली की खोज में दूर और पास सब स्थानों पर आदमी दौड़ पड़े और मुहल्ले के पड़ोसियों में भी एक प्रकार की हलचल उपस्थित हो गई।

भोजनोपरान्त माँ ने अपूर्व के विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया। अपूर्व उसके लिये तैयार हो गया, कारण प्रस्ताव बहुत पहिले से ही रक्खा जा चुका था; परन्तु पुत्र नई रोशनी के चक्कर में जिद्द कर बैठा

था कि जब तक वह बी० ए० पास नहीं कर लेगा, तब तक विवाह नहीं करेगा। इस समय तक माता ने उसकी प्रतीक्षा की थी, अस्तु अब कोई भी आपत्ति करना गलत था। अपूर्व ने कहा—"पहिले लड़की देखली जाय। इसके उपरान्त कुछ स्थिर होगा।" मा ने कहा—"लड़की देखी जा चुकी है, उसके लिये तुझे चिन्ता नहीं करनी है।" परन्तु अपूर्व इस भावना के प्रति स्वयं चिन्ता करने को प्रस्तुत हो गया और बोला—"लड़की को बिना देखे ब्याह नहीं कर सकूँगा।" मा ने सोचा—'आजतक सृष्टि में ऐसी बात कहीं भी नहीं सुनी गई;' परन्तु वे इसके लिये भी तैयार होगईं। उस रात को अपूर्व के दीपक बुझा कर बिछौने पर शयन करते ही बरसाती रात्रि की सम्पूर्ण सशब्दता एवं सम्पूर्ण निस्तब्धता उस पार से आकर, नीरव, विनिद्र शैया पर एक उच्छ्वसित उच्च-मधुर-कंठ की हास्य-ध्वनि के समान उसके कानों में पड़ कर, क्रमशः बजने लगी। उसका मन स्वयं को बारम्बार केवल यह कह कर पीड़ा पहुँचाने लगा कि प्रातःकाल पाँव फिसल जाने से जो घटना घटी, उसका किसी न किसी उपाय से संशोधन कर लेना उचित है। बालिका यह नहीं जानती कि मैं अपूर्वकृष्ण बहुत पढ़ा-लिखा हूँ, कलकत्ते में बहुत समय बिताकर लौटा हूँ, अचानक ही पिछला पाँव कीचड़ पर पड़ जाने से गिर जाने के कारण मैं उपहास्य अथवा उपेक्षणीय गाँव का एक साधारण युवक नहीं हूँ।

दूसरे दिन अपूर्व को कन्या देखने के लिये जाना था। अधिक दूर नहीं, मुहल्ले में ही उसका मकान था। उसने विशेष यत्नपूर्वक अपने को सजाया, धोती और चादर छोड़कर रेशमी चपकन, पायजामा, मस्तक पर एक गोलाकार पगड़ी और पालिश किये हुए एक जोड़ी जूते पाँव में पहिने, हाथ में रेशमी छाता लेकर वह प्रातःकाल ही बाहर निकल पड़ा। सम्भावित-ससुराल में पदार्पण करते ही वहाँ अत्यन्त समारोह और समादर की धूम मच गई। अन्त में, यथासमय कम्पित-हृदय बालिका को झाड़-पोंछ कर, रँग-रँगा कर, जूड़े में गोटा लगा कर, एक पतली रंगीन साड़ी में लपेट कर, वर के सम्मुख लाकर उपस्थित किया गया। वह

एक कोने में प्राय: घुटने तक मस्तक झुकाये हुए बैठी रही एवं एक प्रौढ़ा-दासी उसे साहस प्रदान करने के लिये पीछे उपस्थित रही। कन्या का एक भाई जो बच्चा ही था, अपने परिवार में एक नये, अनधिकार प्रवेश करने वाले व्यक्ति की पगड़ी, घड़ी की चैन एवं नई उठती हुई मूछों का एकचित होकर निरीक्षण करने लगा। अपूर्व ने कुछ समय तक अपनी मूछों पर ताव देने के उपरान्त गम्भीर भाव से पूछा—"तुम क्या पढ़ती हो?" वस्त्राभूषणों से लदी, लज्जा की गठरी द्वारा उसे अपने प्रश्न का कोई भी उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। दो-तीन बार प्रश्न करने एवं प्रौढ़ा दासी द्वारा पीठ पर उत्साह-जनक थपकी देने के पश्चात् बालिका ने कोमल स्वर में, एक ही निःश्वास में, अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक कह डाला—'चार पाठ द्वितीय भाग, व्याकरण प्रथम भाग, भूगोल विवरण, पट्टी गणित, भारतवर्ष का इतिहास।' इसी समय बाहर की ओर एक अशान्त-चाल का धम-धम शब्द सुना गया और क्षण भर में ही दौड़ती-हाँफती, पीठ पर पड़े बालों को हिलाती हुई मृण्मयी ने उस घर के भीतर प्रवेश किया। अपूर्वकृष्ण की ओर कोई दृष्टिपात किये बिना ही उसने सीधे कन्या के भाई राखाल का हाथ पकड़ कर खींचतान आरम्भ कर दी। उस समय राखाल अपनी पर्यवेक्षण शक्ति की चिन्ता में एकान्त मन से डूबा हुआ था, वह किसी भी प्रकार उठना नहीं चाहता था। उस समय दासी अपने संयत-कंठ-स्वर की कोमलता के प्रति दृष्टि रखते हुए यथासाध्य तीव्र-भाव से मृण्मयी की भर्त्सना करने लगी। अपूर्वकृष्ण अपने सम्पूर्ण गाम्भीर्य एवं गौरव को एकत्र कर, पगड़ी बांधे हुए मस्तक को ऊँचा उठाये बैठा रहा और पेट के पास लटकती हुई घड़ी की चैन को हिलाने लगा। अन्त में, साथी को किसी भी प्रकार विचलित न कर सकने पर, उसकी पीठ पर एक जोर का घूँसा मार कर एवं शीघ्रतापूर्वक कन्या के मस्तक का घूँघट खींचकर खोलती हुई, मृण्मयी आँधी की भांति घर से बाहर निकल गई। दासी घुमड़ती हुई गरजने लगी एवं बहिन का घूँघट अचानक ही खुल जाने के कारण राखाल ने खिलखिला कर हँसना आरम्भ कर दिया। अपनी

पीठ पर लगे हुए जोर के घूँसे को भी उसने अपने मन में अन्यायपूर्ण नहीं समझा; क्योंकि इस प्रकार का लेन-देन उन दोनों के बीच सदा ही चलता रहता था। इतना ही क्यों, पहिले एक बार मृण्मयी के बाल जब कंधे से नीचे पीठ तक लटकते थे, तब एक दिन राखाल ने अचानक ही पीछे से आकर उसके बालों में कैंची चलादी थी, उस समय मृण्मयी ने अत्यन्त क्रोध करके उसके हाथ से कैंची छीन ली और उसके द्वारा अपने बचे हुये बालों को कच्-कच् शब्द से निर्दयतापूर्वक काट कर फैला दिया था। उसके काले घुँघराले बालों के गुच्छे डाली से गिरे हुए काले अंगूरों के गुच्छे की भाँति पृथ्वी पर गिर पड़े थे। दोनों के बीच इस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित थी।

इसके पश्चात् यह नीरव-परीक्षा-सभा और अधिक देर तक स्थायी नहीं हुई। पिंडाकार कन्या किसी प्रकार फिर दीर्घाकार होकर, दासी के साथ अन्तःपुर को चली गई। अपूर्व अत्यन्त गम्भीर भाव से अपनी उठती हुई मूछों पर ताव देता हुआ उठकर घर से बाहर जाने को उद्यत हुआ। द्वार के समीप पहुँच कर देखा कि पालिश किये हुए नये जूतों की जोड़ी जिस स्थान पर रक्खी थी, वहाँ पर नहीं है, और वह कहाँ है इसे भी बहुत कुछ प्रयत्न करके नहीं जाना जा सका।

घर के सभी व्यक्ति अत्यन्त परेशान हो उठे एवं अपराधी के ऊपर गाली एवं भर्त्सना की अजस्र-वर्षा होने लगी। बहुत खोज करने के पश्चात् उपाय-हीन हो, मकान-मालिक की फटी-पुरानी-ढीली चट्टियों को पहिन कर पैण्ट, चपकन और पगड़ी से सुसज्जित अपूर्व कीचड़ से भरे हुए गाँव के मार्ग पर अत्यन्त सावधानीपूर्वक चलने लगा।

तालाब के समीप निर्जन-मार्ग में अचानक ही वह उच्च-कंठ का अजस्र-हास्य कलोच्छ्वास फिर सुनाई दिया; जैसे तरु-पल्लवों की ओट में से कौतुकप्रिया वनदेवी अपूर्व की उन असंगत-चट्टियों को देखकर अपनी हंसी को और अधिक न रोक सकी हो। अपूर्व लज्जित भाव से छिटक कर खड़ा हो गया और इधर-उधर निरीक्षण करने लगा। इसी समय

सघन वन से बाहर निकल कर, एक निर्लज्ज अपराधिनी उसके सम्मुख नये जूतों की जोड़ी को रख कर भागने के लिये उद्यत हुई। अपूर्व ने शीघ्रतापूर्वक दोनों हाथ पकड़ कर उसे बन्दी बना लिया।

मृण्मयी ने टेढ़ी-तिरछी हो, हाथ छुड़ा कर भागने की चेष्टा की; परन्तु वह सम्भव नहीं हुआ। घुँघराले केशों से अलंकृत उसके परिपुष्ट, सहास्य एवं दुष्ट-मुख के ऊपर वृक्षों की डालियों से छन कर आती हुई सूर्य की किरणें गिरने लगीं। धूप से उज्ज्वल, निर्मल, चञ्चल, निर्झरिणी की ओर नीचे झुका हुआ कौतूहली पथिक जिस प्रकार निर्निमेष दृष्टि से उसके तल-प्रदेश को देखता रहता है, उसी प्रकार अपूर्व गहरे नेत्रों से मृण्मयी के ऊपर उठे हुए मुख के ऊपर बिजली के समान चंचल दोनों नेत्रों के बीच देखने लगा और अत्यन्त धीरे-धीरे मुट्ठी ढीली करके, जैसे अपने कर्तव्य को अधूरा ही छोड़कर, बन्दिनी को छोड़ दिया। यदि अपूर्व क्रोध करके, मृण्मयी को पकड़ कर मारता तो भी उसे कुछ आश्चर्य नहीं होता; परन्तु निर्जन मार्ग में इस अद्भुत नीरव-दण्ड का वह कोई भी अर्थ नहीं समझ सकी।

नृत्यमयी प्रकृति के नूपुरों की झंकार के समान वह चंचल-हास्य-ध्वनि समस्त आकाश में व्याप्त होकर फिर बजने लगी और चिन्ता में डूबा हुआ अपूर्वकृष्ण बहुत धीरे-धीरे पाँव रखता हुआ अपने घर में आ उपस्थित हुआ।

तीसरा परिच्छेद

अपूर्व सारे दिन विभिन्न प्रकार के बहाने बनाकर घर के भीतर मा से साक्षात्कार करने नहीं गया। किसी के यहाँ निमंत्रण था, वहीं भोजन कर आया। अपूर्व के समान एक विद्वान् गम्भीर, भावुक व्यक्ति के सामान्य, अशिक्षिता बालिका के समक्ष अपने लुप्त-गौरव का उद्धार

करने एवं अपने आंतरिक माहात्म्य का परिपूर्ण परिचय देने के निमित्त इतना अधिक उत्कंठित क्यों हो उठा, इसे समझना कठिन है। एक छोटे से गाँव की चञ्चल लड़की ने उसे साधारण व्यक्ति समझ लिया तो क्या हुआ ? वह यदि क्षण भर के लिये उसे हास्यास्पद बनाकर, तदुपरान्त उसके अस्तित्व को भूलकर, राखाल नामक एक निर्बोध, निरक्षर बालक के साथ खेलने के लिये व्यग्रता प्रकट करती है, तो इसमें उसकी क्या हानि है ? उसके सम्मुख यह प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता है कि वह 'विश्वदीप' नामक मासिक पत्र में पुस्तकों की समालोचना किया करता है एवं उसकी अल्मारी के भीतर एसेन्स, जूता, रोविदी का कैम्फर, रंगीन चिट्ठियों के कागज एवं 'हारमोनियम शिक्षा' नामक पुस्तक के साथ एक परिपूर्ण पुस्तक, रात्रि के गर्भ में भावी उषा के समान प्रकाशन की प्रतीक्षा में रक्खी हुई हैं। परन्तु मन को समझाना कठिन है और इस ग्राम-वासिनी चञ्चला-कन्या के समक्ष श्रीयुत अपूर्वकृष्णराय बी० ए० किसी भी प्रकार पराजय स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं।

सन्ध्या के समय अन्तःपुर में प्रवेश करने पर मा ने उससे पूछा—"क्यों रे अपूर्व ! कन्या को कैसा देखा, पसन्द तो है ?"

अपूर्व कुछ अप्रतिभ भाव से बोला—"कन्या देखी हैं मा, और उनमें से एक मुझे पसन्द भी है।"

मा ने आश्चर्यचकित होकर कहा—"तूने आज कितनी लड़कियाँ देखी हैं ?"

अन्त में अनेक प्रश्नों के पश्चात् इस प्रकार प्रकाश पड़ा कि पड़ोसिन शारदा की लड़की मृण्मयी को उनके लड़के ने पसन्द किया है। इतना पढ़ने-लिखने पर भी लड़के की ऐसी पसन्द······?

पहले अपूर्व में बहुत अधिक लज्जा रही, अन्त में मा जब बहुत आपत्ति करने लगीं, तब उसकी लज्जा दूर हो गई। वह जिद के रूप में कह बैठा—"मृण्मयी के अतिरिक्त और किसी के साथ विवाह नहीं करूंगा।" वह ज्यों-ज्यों उस जड़-पुतली कन्या के सम्बन्ध में कल्पना

करने लगा, त्यों-त्यों विवाह के सम्बन्ध में उसकी अरुचि बढ़ती ही चली गई।

दो तीन दिन तक दोनों पक्षों में मान, अभिमान, उपवास और अनिद्रा का भाव रहने के उपरान्त अन्त में अपूर्ण ही विजयी हुआ। मा ने अपने मन को समझाया कि मृण्मयी अभी बच्ची ही है और मृण्मयी की मा इसे उपयुक्त शिक्षा प्रदान करने में असमर्थ है। विवाह के पश्चात् जब वह उनके हाथ में आ जायगी, तब उसके स्वभाव में परिवर्तन हो जायगा एवं क्रमशः उन्हें इस बात पर भी विश्वास होगया कि मृण्मयी का चेहरा सुन्दर है, परन्तु इसी समय उसके भद्दे बालों की कल्पना उदय होते ही उनका हृदय निराशा से भर गया। फिर भी उन्होंने यह आशा करते हुये निश्चय किया कि यदि ठीक से जूड़ा बांधा जाय एवं खूब तेल डाला जाय तो थोड़े ही समय में यह त्रुटि भी दूर हो जायगी।

मुहल्ले के सभी लोगों ने अपूर्व की इस पसन्द को अपूर्ण-पसन्द का नाम दिया। पगली मृण्मयी को बहुत से लोग प्यार करते थे, परन्तु उसका विवाह अपने पुत्र के साथ करना किसी के मन में ठीक नहीं ठहरता था। मृण्मयी के पिता ईशान मजूमदार को यथा समय भेज दिया गया। वे एक स्टीमर कम्पनी के क्लर्क के रूप में, नदी के किनारे एक दूर के छोटे-से स्टेशन पर, एक छोटी-सी टीन की छत की झोंपड़ी में, माल रखवाने-उतरवाने एवं टिकिट बेचने के काम में नियुक्त थे।

मृण्मयी के विवाह का समाचार पाकर उनकी दोनों आँखों से आंसू बहने लगे। उनमें कितना दुःख और कितना आनन्द था, इसका परिमाण बता सकने का कोई उपाय नहीं है।

कन्या के विवाह के उपलक्ष में ईशान ने हैड आफिस के साहब के पास छुट्टी की प्रार्थना करते हुये दरख्वास्त दी। साहब ने उस कार्य को नितान्त तुच्छ समझ कर छुट्टी को नामंजूर कर दिया। तब पूजा के दिनों में एक सप्ताह की छुट्टी प्राप्त होगी; इस सम्भावना को लेकर, उस समय तक के लिये विवाह को स्थगित रखने के हेतु उन्होंने अपने

घर को चिट्ठी लिख दी; परन्तु अपूर्व की मा ने कहा—"इस महीने का दिन अच्छा है, और विलम्ब नहीं किया जा सकेगा।"

दोनों ही ओर से प्रार्थना ठुकरा दिये जाने पर व्यथित-हृदय ईशान और कोई आपत्ति न कर, पूर्व की भाँति माल का वजन एवं टिकिट-बिक्री करने लगे।

इसक उपरान्त मृण्मयी की मा और गाँव के जितने भी बड़े-बूढ़े थे, वे सब मिलकर भावी-कर्तव्य के सम्बन्ध में मृण्मयी को दिन-रात उपदेश देने लगे। खेलकूद, शीघ्रतापूर्वक दौड़ना, उच्च-हास्य, लड़कों के साथ बातचीत एवं भूख के अनुसार भोजन के सम्बन्ध में निषेध-परामर्श देकर विवाह को एक विभीषिका के रूप में उपस्थित करके सभी कृतकार्य हो उठे। उत्कंठित, संशकित हृदय से मृणमयी ने हृदय में सोचा—'उसे आजीवन कैद एवं उसके पश्चात् फाँसी का हुक्म हुआ है।'

वह अड़ियल टट्टू की भाँति गर्दन को टेढ़ी कर, पीछे हटती हुई बोल बैठी—'मैं विवाह नहीं करूँगी।'

चौथा परिच्छेद

परन्तु विवाह करना ही पड़ा।

तदुपरांत शिक्षा आरम्भ हुई। एक रात के भीतर ही मृण्मयी का सम्पूर्ण संसार अपूर्व की माता के अन्तःपुर में आकर कैद होगया।

सास सुधार के काम में लग गई। अत्यन्त कठोर मुँह करके बोली—"देखो बहू! अब तुम नन्हीं बच्ची नहीं रहीं। हमारे घर में ऐसी बेहयाई नहीं चल सकेगी।"

सास ने जिस भाव से कहा, मृण्मयी ने उसी भाव से बात को ग्रहण नहीं किया। उसने सोचा—"इस घर में अगर नहीं चली, तब शायद दूसरी जगह जाना होगा।" दोपहर में वह दिखाई नहीं दी। 'कहाँ गई, कहाँ गई' : ढुंढेरा पड़ गया, अन्त में विश्वास-घातक राखाल ने उसे उसके गुप्त-स्थान का पता बताकर पकड़वा दिया। वह वटवृक्ष के नीचे खड़े हुए राधाकांत जी के परित्यक्त टूटे हुए रथ में जाकर बैठ गई थी।

सास, माँ एवं मुहल्ले के सभी हितैषियों ने मृण्मयी को जिस प्रकार लांछित किया, उसकी कल्पना पाठक एवं पाठिकाएँ सहज ही कर सकती हैं।

रात्रि को घने बादलों से छप्-छप् शब्द करते हुए वर्षा होनी आरम्भ होगई। अपूर्वकृष्ण ने अपने बिछौना से अत्यन्त धीरे-धीरे उठ कर एवं मृण्मयी के तनिक पास जाकर, उसके कान में कोमल स्वर में कहा—"मृण्मयी, तुम मुझे प्यार नहीं करतीं ?"

मृण्मयी रोषपूर्वक बोल उठी—"न, मैं तुम्हें कभी प्यार नहीं करूँगी।" उसका जितना भी क्रोध एवं जितना भी गंध-विधान था, उस सभी को एकत्रित कर, वज्र की भाँति अपूर्व के मस्तक पर दे मारा।

अपूर्व ने खिन्न होकर कहा—"क्यों, मैंने तुम्हारे सम्मुख क्या कुछ किया है ?"

मृण्मयी बोली—"तुमने मुझसे विवाह क्यों किया ?"

इस अपराध की सन्तोषजनक कैफियत देना कठिन था, परन्तु अपूर्व ने मन ही मन कहा—'इस विद्रोही मन को जैसे भी बने; वश में करना ही होगा।'

दूसरे दिन सास ने मृण्मयी के विद्रोही-भाव के समस्त लक्षणों को देखकर, उसे घर के भीतर दरवाजा बन्द करके रक्खा। वह पिंजड़े में बन्द किये हुए नये पक्षी के समान पहले बहुत देर तक फड़फड़ाती

हुई रोती रही, अन्त में भागने के लिये कोई भी मार्ग किसी प्रकार न देखकर, निष्फल क्रोध से बिछौने की चादर को दाँतों द्वारा काटते हुए, फाड़कर फेंकने लगी एवं धरती पर गिर कर, मन ही मन अपने पिता को पुकारती हुई रोने लगी ।

इसी समय धीरे-धीरे कोई उसके पास आकर बैठ गया और स्नेहपूर्वक उसके धूलि धूसरित बालों को गालों के ऊपर एक ओर हटा देने का प्रयत्न करने लगा । मृण्मयी ने बड़े जोर से अपने माथे को ऊपर की ओर झटक कर, उसका हाथ हटा दिया । अपूर्व कानों के पास अपना मुंह नीचा करके कोमल स्वर में बोला—"मैंने चुपचाप दरवाजा खोल दिया है । आओ, हम दोनों पीछे के बगीचे में भाग चलें ।" मृण्मयी ने जोर से अपना मस्तक हिलाते हुए, तेजी के साथ रोते हुए कहा—"नहीं ।" अपूर्व ने उसकी ठोड़ी पकड़ कर मुँह को ऊपर उठाने की चेष्टा करते हुए कहा—"एक बार देखो तो सही, कौन आया है ।" राखाल पृथ्वी पर पड़ी हुई मृण्मयी की ओर देखता हुआ, हतबुद्धि के समान, दरवाजे के पास खड़ा हुआ था । मृण्मयी ने बिना मुँह उठाये हुए ही अपूर्व के हाथ को अलग हटा दिया । अपूर्व ने कहा—"राखाल तुम्हारे साथ खेलने के लिए आया है, खेलने के लिए जाओगी ।" उसने अव्यक्त पूर्ण स्वर में कहा—'नहीं ।' राखाल भी कोई सुविधा न देख, किसी प्रकार घर से बाहर निकल, तेजी के साथ जान बचाकर भाग गया । अपूर्व चुपचाप बैठा रहा । मृण्मयी रोते-रोते थककर सो गई । उस समय अपूर्व चुपचाप बाहर निकल, द्वार की साँकल बन्द कर चला गया ।

उसके दूसरे दिन मृण्मयी को पिता का भेजा हुआ एक पत्र मिला । उन्होंने अपनी प्राण-प्रतिमा मृण्मयी के विवाह के समय उपस्थित न होने के सम्बन्ध में विलाप करते हुए नव-दम्पति को हार्दिक आशीर्वाद भेजा था ।

मृण्मयी सास के पास जाकर बोली—"मैं पिताजी के पास जाऊँगी ।" सास अचानक ही उसकी इस असम्भव प्रार्थना के लिए

भर्त्सना करने लगी—"तुम्हारे बाप कहाँ हैं, इसका कोई ठिकाना नहीं और कहती हो कि पिता के पास जाऊँगी। यह दुनिया से निराला ही स्वांग है।" मृण्मयी कोई उत्तर न देकर चली गई। वह अपने कमरे में जाकर द्वार बन्द कर, अत्यन्त हताश व्यक्ति जिस प्रकार देवता से प्रार्थना करता है, उसी प्रकार प्रार्थना करते हुए कहने लगी—"पिताजी ! तुम मुझे यहां से ले जाओ, यहाँ मेरा कोई नहीं है। यहाँ रहने पर मैं नहीं बचूँगी।"

आधी रात बीतने पर जब उसके पति सो गये, तब मृण्मयी धीरे से द्वार खोलकर, घर से बाहर हो गई। यद्यपि बीच-बीच में बादल घिर आते थे, फिर भी चांदनी रात में मार्ग दिखाने के लिए यथेष्ट प्रकाश था। पिता के पास पहुँचने के लिये किस मार्ग को ग्रहण करना होगा, इसे मृण्मयी कुछ नहीं जानती थी। उसके मन में केवल यही विश्वास था कि जिस मार्ग पर होकर डाक के पत्रवाहक 'समर' लोग चलते हैं, उसी मार्ग से सभी स्थानों पर पहुँचा जा सकता है। मृण्मयी उसी डाक की सड़क से चलने लगी। चलते-चलते शरीर थक गया, रात भी प्रायः बीत गई, वन के बीच में जबकि दो एक पक्षी अपने पंख फड़फड़ा कर अनिश्चित स्वर में बोलने का उपक्रम कर रहे थे, परन्तु समय का निःसन्देह निर्णय न कर पाने के कारण द्विविधा में चुप थे, उसी समय मृण्मयी मार्ग समाप्त होने पर, नदी के तट पर बसे हुए एक बहुत बड़े बाजार जैसे स्थान पर आ उपस्थित हुई। इसके पश्चात जब वह सोच रही थी कि अब किस ओर जाऊँ, उसी समय उसे अपना परिचित झम् झम् शब्द सुनाई पड़ा। चिट्ठियों के थैले को कन्धे पर लटकाये हुये, हांफता हुआ डाकिया आ पहुँचा। मृण्मयी शीघ्रतापूर्वक उसके पास जा करुण एवं थके हुए स्वर में बोली—"मैं कुशीगंज में अपने पिता के पास जाऊँगी, तुम अपने साथ ले चलो न।" उसने कहा—"कुशीगंज कहाँ है, मैं नहीं जानता।' यह कह कर उसने घाट पर बंधी हुई डाक-नौका के मल्लाह को जगाकर,

नौका को खुलवा दिया उसके पास दया करने अथवा पूछताछ करने का समय नहीं था ।

देखते-देखते हाट और बाजार सजग हो उठे । मृण्मयी घाट पर पहुंच कर एक मल्लाह को पुकारती हुई बोली—"माझी ! मुझे कुशी-गंज ले चलोगे ?" माझी द्वारा उसे उत्तर देने के पूर्व ही पास की दूसरी नाव पर बैठा हुआ एक व्यक्ति बोल उठा—"और भी कोई है मिनू बेटी ! तुम यहाँ क्यों आई हो ?" मृण्मयी उच्छ्वसित-व्यग्रता पूर्वक बोल उठी—"वनमाली ! मैं पिताजी के पास कुशीगंज जाऊंगी, तू मुझे अपनी नौका पर ले चल ।" वनमाली उसी के गांव का मल्लाह था । वह इस उच्छृंखल-प्रकृति बालिका को अच्छी तरह जानता था । वह बोला—'पिता के पास जाओगी, यह बड़ी अच्छी बात है । चलो, मैं तुमको ले चलूंगा ।" मृण्मयी नाव पर जा बैठी ।

मल्लाह ने नौका छोड़ दी । बादलों से मूसलाधार वर्षा आरम्भ होगई । भाँदों-मास की परिपूर्ण नदी उफन-उफन कर नौका को हिलाने लगी । मृण्मयी का सम्पूर्ण शरीर निद्रा के वशीभूत हो उठा । वह अंचल बिछाकर नौका में सो रही और वह चंचल-प्रकृति बालिका नदी के झूले द्वारा प्रकृति-स्नेह पालिता शान्त-शिशु की भाँति बेधड़क सोने लगी ।

जगने पर उठकर देखा, वह अपनी ससुराल में खाट पर लेटी सो रही है । उसे जगा हुआ देखकर महरी ने बड़बड़ाना आरम्भ कर दिया । दासी के कंठ-स्वर को सुनकर सास ने आकर अत्यन्त कठोर बातें कहना आरम्भ कर दिया । मृण्मयी आँखें फाड़-फाड़ कर चुपचाप उसके मुँह की ओर देखने लगी । अन्त में, जब उसने उसके पिता की शिक्षा पर कटाक्ष करना आरम्भ किया, तब मृण्मयी ने शीघ्रतापूर्वक पास के कमरे में घुसकर, भीतर से साँकल बन्द करली ।

अपूर्व ने लज्जा को दूर कर, माँ के पास आकर कहा—"मां ! बहू को दो-एक दिन के लिए एक बार अपने पिता के घर भेज देने में क्या दोष है ?"

माँ ने अपूर्व को 'न भूतो न भविष्यति' जैसी फटकार सुना दी एवं दुनियाँ में इतनी लड़कियों के होते हुए भी उन्हें छोड़ कर इस हाड़-जलाने वाली डाकू-लड़की को घर में ले आने के लिये भी उसे बहुत खरी खोटी सुनाई।

पांचवां परिच्छेद

उस दिन दिनभर बाहर भारी वर्षा एवं घर के भीतर भी वैसा ही दुर्योग आँसुओं की वर्षा का चलता रहा।

इसके दूसरे दिन आधी रात को अपूर्व ने मृण्मयी को धीरे-धीरे जगा कर कहा—"मृण्मयी तुम अपने पिता के पास जाओगी ?"

मृण्मयी शीघ्रतापूर्वक अपूर्व के हाथ को दबा कर पकड़ती हुई, चकित होकर बोली—"जाऊँगी।"

अपूर्व ने धीरे-धीरे कहा—"तब आओ, हम दोनों व्यक्ति धीरे-धीरे भाग चलें। मैंने घाट पर नौका ठीक कर रक्खी है।"

मृण्मयी ने अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण हृदय से एक बार पति के मुख की ओर देखना चाहा, तदुपरान्त शीघ्रतापूर्वक उठ कर कपड़ों को त्याग, बाहर जाने के लिये प्रस्तुत होगई। अपूर्व ने अपनी माता की चिन्ता दूर करने के लिये वहां एक पत्र रख दिया और दोनों व्यक्ति बाहर निकल गये।

मृण्मयी ने उस अन्धकारपूर्ण रात्रि में जन-शून्य, निस्तब्ध, निर्जन ग्राम-मार्ग पर पहली बार स्वेच्छा से आन्तरिक विश्वास-रहित स्वामी के हाथ को पकड़ा। उसके हृदय का आनन्द उद्वेग उस सुकोमल-स्पर्श को पाकर उसके स्वामी की शिराओं में प्रवाहित होने लगा।

नाव उसी रात्रि को छोड़ दी गई। अशान्त हर्षोच्छ्वास के होते

हुए भी थोड़ी ही देर में मृण्मयी सो गई, दूसरे दिन कैसी मुक्ति थी, कैसा आनन्द था ? दोनों किनारों पर कितने ही गाँव, कितने ही बाजार, कितने ही खेत और जंगल और दोनों ही ओर कितनी ही नौकायें आ-जा रही थीं। मृण्मयी प्रत्येक तुच्छ-विषय पर अपने पति से सहस्रों बार प्रश्न करने लगी। 'उस नौका में क्या है, वह कहाँ से आई है, इस जगह का नाम क्या है ?' इस प्रकार के सभी प्रश्न थे, जिनके उत्तर अपूर्व को किसी भी कालेज की पुस्तक में नहीं मिले थे एवं जो उसके कलकत्ते के अनुभव से भी बाहर के थे। भाई-बन्धु सुनकर लज्जित होंगे कि अपूर्व ने इन सभी प्रश्नों में प्रत्येक का उत्तर दिया था एवं अधिकांश उत्तरों के साथ सचाई का संयोग नहीं था। जैसे, वह तिल की नौका को अलसी की नौका, पाँच बेड़ा को रायनगर एवं मुनसिफ की अदालत को जमींदार की कचहरी कहते हुए तनिक भी संकोच अनुभव नहीं करता था और इन समस्त भ्रमपूर्ण उत्तरों से, विश्वस्त-हृदय प्रश्नकारिणी के संतोष में तिलमात्र भी व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ।

दूसरे दिन सन्ध्या के समय नौका कुशीगंज जा पहुँची। टीन के घर में एक मैली-कुचैली काँच की लालटेन के तेल में बत्ती जलाये, छोटे डैक्स के ऊपर एक चमड़े की जिल्द वाला मोटा खाता रक्खे, नंगे बदन ईशानचन्द्र स्टूल के ऊपर बैठे हुए हिसाब लिख रहे थे। इसी समय नव-दम्पति ने घर के भीतर प्रवेश किया। मृण्मयी ने पुकारा— "पिताजी !" उस घर में ऐसी कंठ-ध्वनि इस प्रकार से कभी भी ध्वनित नहीं हुई थी।

ईशान की आँखों से झर-झर कर आंसू बहने लगे। वे 'क्या बोलें, क्या करें' कुछ भी नहीं विचार सके। उनकी पुत्री एवं जमाई मानो साम्राज्य के युवराज और युवराज्ञी हैं, इस सम्पूर्ण पटसन की गांठों के बीच उनके लिये उपयुक्त सिंहासन किस प्रकार बनाया जा सकता है, इसी को निश्चित करने में उनकी भटकती हुई बुद्धि कुछ भी ठीक निर्णय नहीं कर सकी।

इसके पश्चात् भोजन की बात, वह भी एक चिन्ता थी। दरिद्र क्लर्क अपने हाथ से दाल-भात पका कर भोजन बना कर खा लेता है, आज इस प्रकार के आनन्द के दिन वह क्या करेगा, क्या खिलायेगा ? मृण्मयी बोली—"पिताजी ! आज हम सब मिल कर भोजय बनायगे।" अपूर्व ने इस प्रस्ताव पर अत्यन्त उत्साह प्रकट किया।

घर के भीतर स्थान का अभाव, आदमियों का अभाव और अन्न का अभाव था; परन्तु छोटे से छेदों में होकर फुब्बारा जिस प्रकार चौगुने वेग से उठता है, उसी प्रकार आनन्द गरीबी के संकीर्ण-मुख से भी परिपूर्ण धाराओं में उच्छ्वसित होने लगा।

इस प्रकार तीन दिन कट गये, दोनों समय नियमित रूप से स्टीमर आ लगता है। कितने ही लोग, कितना ही कोलाहल। सन्ध्या के समय नदी का तट बिलकुल निर्जन हो जाता है, उस समय कैसी अपूर्व स्वाधीनता रहती है एवं तीनों व्यक्ति मिलकर, अनेक प्रकार की तैयारियाँ करके, भूलें करते हुए भी, कुछ-का-कुछ करते हुये भी इकट्ठे होकर रसोई बनाते, उसके पश्चात् मृण्मयी के चूड़ियों से सुसज्जित स्नेह-पूर्ण हाथों का भोजन परोसना, ससुर और जमाई का एक साथ बैठकर भोजन करना, गृहणीपन की सहस्रों त्रुटियों का प्रदर्शन करते हुये मृण्मयी की हँसी उड़ाना और उसके द्वारा बालिका की आनन्दपूर्ण-कलह एवं मौखिक अभिमान का प्रदर्शन होता। अन्त में, अपूर्व ने विचार किया, और अधिक दिन ठहरना उचित नहीं होगा। मृण्मयी ने करुण स्वर में और कुछ दिन का समय देने के लिये प्रार्थना की। ईशान ने कहा—"अब क्या काम है ?"

विदा के दिन कन्या को छाती के पास खींच कर, उसके मस्तक पर हाथ रखते हुए अश्रुपूर्ण गद्-गद् कण्ठ से ईशान ने कहा—"बेटी ! तू अपनी ससुराल को उज्ज्वल करती हुई लक्ष्मी बनकर रहना, जिससे मेरी मिनू में कोई भी दोष न लगा सके।"

मृण्मयी रोती-रोती स्वामी सहित विदा हुई और ईशान अपने

उस दुगुने आनन्द रहित संकीर्ण घर में लौट गये। दिन के बाद दिन और महीने के बाद महीने, नियमित रूप से माल वजन करने में लग उठे।

छठा परिच्छेद

यह दोनों अपराधी जब घर लौट कर आये तो मां अत्यन्त गंभीर बनी रहीं, कोई भी बात नहीं कही। किसी के व्यवहार के प्रति इस प्रकार का कोई दोषारोपण नहीं किया गया, जिसे स्पष्ट करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता। यह नीरव-अभियोग, निस्तब्ध अभिमान लोहे के समान सम्पूर्ण गृहस्थी को अटल भाव से अपने नीचे दबाये रहा।

अन्त में असह्य हो उठने पर अपूर्व ने आकर कहा—"मां! कालेज खुल गया है; अब मुझे कानून पढ़ने के लिये जाना होगा।"

मां ने उदासीन भाव से कहा—"बहू का क्या करोगे?"

अपूर्व ने कहा—"बहू यहीं रहेगी?"

मा ने कहा—"न, बेटा! यहां जरूरत नहीं, तुम उसे अपने साथ ले जाओ।" साधारणतः मां अपूर्व से तू कह कर बात करती थीं।

अपूर्व ने अभिमान-खिन्न स्वर में कहा—"अच्छा।"

कलकत्ता जाने की तैयारियाँ होने लगीं। जाने से पहिली रात को अपूर्व ने बिछौने पर आकर देखा, मृण्मयी रो रही है।

हठात् उसके मन को आघात लगा। व्यथित कंठ से कहा—"मृण्मयी! मेरे साथ कलकत्ता जाने की तुम्हें इच्छा नहीं होती?"

मृण्मयी बोली—"नहीं।"

अपूर्व ने पूछा—"तुम मुझे प्यार नहीं करतीं?" इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिला। साधारणतया इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त सहज

होता है, परन्तु कभी-कभी इसके भीतर मनस्तत्व की ऐसी जटिलता बँधी रहती है कि बालिका द्वारा उसके उत्तर की प्रत्याशा नहीं की जा सकती।

अपूर्व ने प्रश्न किया—"राखाल को छोड़कर जाते हुए तुम्हारा मन नहीं करता है ?"

मृण्मयी ने अनायास ही उत्तर दे दिया—"हां।" बालक राखाल के प्रति इस बी० ए० पास कृतविज्ञ युवक में सुई के समान अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु अत्यन्त तीक्ष्ण ईर्ष्या का उदय हो उठा। कहा—"मैं बहुत समय तक अब घर लौट कर नहीं आ सकूँगा।" इस समाचार के सम्बन्ध में मृण्मयी को अपनी ओर से कोई वक्तव्य नहीं देना था।

"लगता है दो वर्ष अथवा उससे भी अधिक समय हो सकता है।"

मृण्मयी ने आज्ञा दी—"तुम लौट कर आते समय राखाल के लिए एक तीन फलवाला राजिस का चाकू खरीद कर ले आना।"

अपूर्व ने लेटे हुए से कुछ उठकर कहा—"तुम तब तक यहीं रहोगी ?"

मृण्मयी ने कहा—"हाँ, मैं मां के पास जाकर रहूँगी।"

अपूर्व ने निश्वास छोड़ते हुए कहा—"अच्छा वहीं रहो। जब तक मुझे आने के लिए चिट्ठी नहीं लिखोगी, मैं नहीं आऊँगा, खूब खुश हुई ?"

मृण्मयी इस प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ समझ कर सोने लगी, परन्तु अपूर्व को नींद नहीं आई, तकिया ऊँचा करके सहारा लेकर बैठा रहा।

रात बहुत बीतने पर हठात् चाँद ऊपर उठा और चाँदनी बिछौने के ऊपर आकर पड़ने लगी। अपूर्व उस स्थिति में मृण्मयी की ओर देखने लगा। देखते-देखते उसके मन में उठा, जैसे राजकन्या को कोई चाँदी की छड़ी छुवाकर अचेत करके छोड़ गया हो। एक बार, केवल एक बार, सोने की छड़ी प्राप्त होते ही इस निद्रित-आत्मा को जगाकर

माला बदली जा सकती है; चाँदी की छड़ी हँसी है और सोने की छड़ी अश्रुजल ।

उषाःकाल में अपूर्व ने मृण्मयी को जगा दिया । कहा—"मृण्मयी ! मेरे जाने का समय हो गया। चलो, तुम्हें तुम्हारी माता के घर छोड़ आऊँ । मृण्मयी शैया त्यागकर उठ खड़ी हुई । अपूर्व ने उसके दोनों हाथों को पकड़ कर कहा—"इस समय मेरी एक प्रार्थना है, मैंने अनेक बार तुम्हारी अनेक सहायता की हैं, आज जाने के समय उनका एक पुरस्कार दोगी ?"

मृण्मयी ने विस्मित होकर कहा—"क्या ?"

अपूर्व ने कहा—"तुम स्वेच्छापूर्वक प्रेम सहित मुझे एक चुम्बन दो ।"

अपूर्व की इस अद्‌भुत प्रार्थना और गम्भीर मुखभाव को देखकर मृण्मयी हँस उठी, फिर हँसी रोककर मुख बढ़ाकर चुम्बन देने के लिए तैयार हुई । पास पहुँचते ही और अधिक न ठहर सकी एवं खिल-खिलाकर हँस उठी । इस प्रकार दो बार प्रयत्न करने के उपरान्त निरस्त हो, मुँह में कपड़ा देकर हँसने लगी । डाँटने के बहाने अपूर्व ने उसके कान के निचले भाग को पकड़ कर हिला दिया ।

अपूर्व का प्रण बहुत कठिन था । चोरी करके अथवा डकैती से या लूट करके कुछ प्राप्त करना वह अपना अपमान समझता था । वह देवता की भांति गौरव सहित, स्वेच्छा से भेंट किये हुए उपहार को चाहता है, अपने हाथ से कुछ भी उठाकर नहीं लेगा ।

मृण्मयी और नहीं हँसी । उसे प्रातःकाल के प्रकाश में निर्जन मार्ग द्वारा उसकी माता के घर छोड़ आने के उपरान्त अपूर्व ने घर आकर अपनी माँ से कहा—"सोच विचार कर देखा, बहू को अपने साथ कलकत्ता ले जाने से मेरी पढ़ाई-लिखाई में व्याघात पड़ेगा, वहाँ उसकी कोई सहेली भी नहीं है; तुम तो उसे इस घर में रखना ही नहीं चाहतीं, मैं उसे उसकी माँ के पास छोड़ आया हूं ।"

इस गम्भीर अभिमान के बीच माता-पुत्र का विच्छेद हुआ ।

सातवां परिच्छेद

मां के घर आकर मृण्मयी ने देखा, अब उसका मन किसी प्रकार नहीं लगता। वह घर मानो प्रारम्भ से अन्त तक बदल गया है। समय किसी प्रकार नहीं कटता; क्या करे, कहाँ जाये, किससे मिले, समझ में नहीं आता।

मृण्मयी को अचानक ही मन में लगा, जैसे सम्पूर्ण घर और सम्पूर्ण गाँव में कोई आदमी नहीं है, जैसे मध्याह्न में सूर्य ग्रहण हुआ हो, वह कुछ भी नहीं समझ पाई। आज कलकत्ता जाने के लिये प्राण-पण से ऐसी इच्छा कर रही है, कल रात्रि को यह इच्छा कहाँ थी? कल वह नहीं जानती थी कि जीवन के किस भाव को त्याग कर जाने के लिये उसका मन क्या कर रहा है; उसके पूर्व ही उसका सम्पूर्ण स्वाद परिवर्तित हो गया। पेड़ के पके पत्ते की भांति आज उसी डाल से गिरे हुये अतीत-जीवन को उसने स्वेच्छा से अनायास ही दूर फेंक दिया है।

कहानियों में सुना जाता है कि चतुर अस्त्रकार ऐसी सूक्ष्म-तलवार का निर्माण कर सकते थे कि उसके द्वारा मनुष्य के दो खंड कर दिये जाने पर भी वह जान नहीं पड़ता था, अन्त में दोनों खंडों को हिलाने पर वे अलग हो जाते थे। विधाता की तलवार उसी प्रकार सूक्ष्म है। उसने मृण्मयी के बाल्य और यौवन के बीच किस समय आघात किया, इसे वह नहीं जान सकी। आज किसी प्रकार हिल जाने से बाल्य-अंश यौवन से अलग जा गिरा एवं मृण्मयी चकित होकर व्यथित हो देखती रही।

मां के घर अपने उस पुरातन शयन-गृह को अपना समझने की इच्छा मन में नहीं होती, वहाँ वह रहती थी, यह बात अचानक ही अब नहीं है। इस समय हृदय की सम्पूर्ण स्मृति एक दूसरे ही घर में, एक दूसरे ही कमरे में, एक दूसरी ही शैया पर गूंजती हुई उड़ने लगी।

मृण्मयी को अब कोई बाहर नहीं देख पाता। उसकी हास्य-ध्वनि अब नहीं सुनी जाती; राखाल उसे देख कर भयभीत हो जाता है; खेल की बात मन में भी नहीं आती।

मृण्मयी ने मां से कहा—"मां, मुझे ससुराल छोड़ आओ।"

इधर विदा के समय पुत्र के उदास चेहरे का स्मरण करते हुए अपूर्व की मां का हृदय फटा जा रहा था। वह गुस्से में आकर बहू को समधिन के घर छोड़ आया था, यह बात उनके मन में अधिक चुभने लगी।

इसी बीच एक दिन माथे पर घूँघट डाले मृण्मयी ने उदास चेहरे से, सास के चरणों में आकर गिरते हुये प्रणाम किया। सास ने उसी समय छलछलाते हुये नेत्रों से उसे अपनी छाती से चिपका लिया। एक क्षण के भीतर ही दोनों का मिलन हो गया। सास को बहू के मुख की ओर देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मृण्मयी अब नहीं है, ऐसा परिवर्तन साधारणतः सब में सम्भव नहीं होता, बड़े परिवर्तन के लिये बड़ी शक्ति आवश्यक है।

सास ने स्थिर किया—मृण्मयी के दोषों का एक-एक करके संशोधन करेगी, परन्तु एक दूसरे अदृश्य-संशोधनकर्त्ता ने एक अज्ञात संक्षिप्त उपाय का अवलम्बन लेकर मृण्मयी को जैसे एक नूतन-जन्म धारण करा दिया था।

इस समय सास को भी मृण्मयी ने समझ लिया, सास ने भी मृण्मयी को पहिचान लिया। जिस प्रकार वृक्ष के साथ शाखा-प्रशाखाओं का मेल होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण गृहस्थी परस्पर अखंड रूप से सम्मिलित हो गई।

यह जो एक गम्भीर; स्निग्ध, विशाल रमणी-प्रकृति मृण्मयी के समस्त शरीर में और सम्पूर्ण हृदय के अणुओं में व्याप्त हो गई है, वह जैसे उसे वेदना दे उठी। प्रथम आषाढ़ के श्याम-सजल-नवीन मेघों के समान उसके हृदय में एक अश्रुपूर्ण विस्तीर्ण अभिमान उमड़ने लगा।

उस अभिमान ने उसकी आंखों की छायामय लम्बी पलकों के ऊपर एक और भी गहरी छाया डाल दी। वह मन ही मन कहने लगी—'मैं स्वयं को नहीं समझ सकी, परन्तु तुमने मुझे क्यों नहीं समझा, तुमने मुझे दंड क्यों नहीं दिया, तुमने मुझे अपनी इच्छा के अनुसार क्यों नहीं चलाया, मुझ राक्षसी ने जिस समय तुम्हारे साथ कलकत्ता नहीं जाना चाहा, तब तुम मुझे जबर्दस्ती पकड़ कर क्यों नहीं ले गये, तुमने मेरी बात क्यों सुनी, मेरा अनुरोध क्यों माना, मेरी अवज्ञता को क्यों सहा ?'

इसके उपरान्त जिस दिन अपूर्व ने प्रभात काल में पुष्करिणी के तट पर निर्जन-मार्ग में उसे बन्दी बना कर भी कुछ नहीं कहा था, एक बार केवल उसके मुख की ओर देखा ही था; वही तालाब, वही मार्ग, वही छाया, वही प्रातःकालीन धूप और वही हृदय-भार से झुकी हुई गम्भीर दृष्टि उसके मन में बैठ गई एवं अचानक ही वह उसका सम्पूर्ण अर्थ समझ उठी। तत्पश्चात् उस विदा के दिन जो चुम्बन अपूर्व के मुख की ओर आगे बढ़ कर लौट आया था, वह असम्पूर्ण-चुम्बन इस समय मरु-मरीचिका की ओर दौड़ने वाले प्यासे पक्षी के समान पुनः उस बीते हुए अवसर की ओर दौड़ने लगा, परन्तु उसकी प्यास फिर भी नहीं बुझ सकी। अब रह-रह कर उसके मन में यही उठता है— "अरे, अमुक समय ऐसा करती, यह ऐसा किया जाता, अमुक प्रश्न का यदि यह उत्तर दिया जाता, उस समय यदि ऐसा होता……"

अपूर्व के मन में इस बात का बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ था कि मृण्मयी मुझे भली भाँति नहीं पहचान सकी। मृण्मयी भी आज बैठी-बैठी सोच रही है—'उन्होंने अपने मन में मुझे क्या समझा, क्या सोच कर चले गये।' अपूर्व उसे चंचल, चपल, नादान, नासमझ बालिका समझता रहा, परिपूर्ण हृदयामृत-धारा से प्रेम-पिपासा मिटाने में सक्षम-रमणी कह कर परिचय नहीं पा सका। इस परिताप के कारण वह लज्जित हो, स्वयं को धिक्कारती हुई पीड़ित होने लगी। चुम्बन और सुहाग के

वे ऋण अपूर्व के तकिये को दे-देकर वह प्रायश्चित करने लगी। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये।

अपूर्व कह गया था—'तुम चिट्ठी नहीं लिखोगी तो मैं घर नहीं लौटूँगा' मृण्मयी उसी को स्मरण कर एक दिन घर का द्वार बन्द कर, चिट्ठी लिखने बैठी। अपूर्व ने उसे सुनहरी किनारी के जो रंगीन कागज दिये थे, उन्हीं को बाहर निकाल कर वह बैठी-बैठी सोचने लगी—खूब यत्नपूर्वक कलम पकड़ कर टेढ़ी-मेढ़ी लाइनें बनाती हुई, उँगलियों में स्याही पोंत कर, छोटे-बड़े अक्षरों में ऊपर किसी प्रकार का सम्बोधन न करते हुये उसने एक साथ ही लिखा—'तुम मुझे चिट्ठी क्यों नहीं लिखते ? तुम कैसे हो ? और तुम घर आओ ?' और क्या लिखना चाहिये, यह कुछ समझ में नहीं आया। असली बात सब कुछ लिखी जा चुकी थी, परन्तु मनुष्य समाज में मन का भाव कुछ और अधिकतापूर्वक प्रकट करना आवश्यक होता है। मृण्मयी भी इसे जानती थी, इसीलिये और भी बहुत देर तक सोच-विचार कर और कई बातों का संयोग कर दिया—'इस बार तुम मुझे चिट्ठी लिखो और कैसे हो सो लिखो, और घर आओ, माँ अच्छी तरह हैं, विसूपुत्री अच्छी तरह है, कल हमारी काली गाय के बछड़ा हुआ है' इतना लिख कर चिट्ठी समाप्त कर दी। चिट्ठी लिफाफे में बन्द करके प्रत्येक अक्षर के ऊपर हृदय का प्रेम भरकर लिखा—'श्रीयुत बाबू अपूर्वकृष्णराय'। प्रेम चाहे जितना भर दिया हो, तब भी पंक्ति सीधी, अक्षर सुन्दर एवं वर्ण शुद्ध नहीं हो पाये।

लिफाफे पर नाम के अतिरिक्त और भी कुछ लिखना आवश्यक होता है, मृण्मयी इसे नहीं जानती थी। पीछे सास अथवा और किसी की दृष्टि उस पर पड़े, इस लज्जा से उसने चिट्ठी को एक विश्वासपात्र दासी के हाथ डाक में भिजवा दिया।

कहने की आवश्यकता नहीं, इस पत्र का कोई परिणाम नहीं हुआ; अपूर्व घर नहीं आया।

आठवां परिच्छेद

माँ ने देखा छुट्टी होगई तो भी अपूर्व घर नहीं आया। मन में सोचा इस समय भी वह उनके ऊपर क्रुद्ध है।

मृण्मयी ने भी निश्चय किया, अपूर्व उससे विरक्त हो गया है। उस समय वह अपनी चिट्ठी के बारे में सोच कर लज्जा से मरने लगी। 'वह चिट्ठी कितनी तुच्छ थी, उसमें कोई भी बात नहीं लिखी गई थी, उसके मन का भाव कुछ भी प्रकट नहीं हुआ था, उसे पढ़कर अपूर्व मृण्मयी को और भी छोटी बच्ची के समान मन में समझ रहे होंगे, मन ही मन और भी अवज्ञा करते होंगे'—यह विचार कर वह तीर से बिंधे हुए पक्षी की भांति मन ही मन तड़पने लगी। दासी से बारम्बार पूछने लगी—"उस चिट्ठी को तू डाक में डाल आई थी?" दासी ने उसे सहस्रों बार आश्वासन देते हुए कहा—"हां बहू! मैं अपने हाथ से बक्स के भीतर डाल आई थी, बाबू को वह अब तक कभी की मिल गई होगी।"

अन्त में अपूर्व की माँ ने एक दिन मृण्मयी को बुलाकर कहा—"बहू, अपू बहुत दिन से घर नहीं आया, इससे मन करता है कलकत्ता जाकर उसे देख आऊँ, तुम संग चलोगी?" मृण्मयी सम्मति-सूचक सिर हिलाकर एवं घर के भीतर आ द्वार बन्द कर, बिछौना के ऊपर पड़, तकिये को छाती के ऊपर चिपटा, हँस कर इधर से उधर करवट लेती हुई, मन के आवेग को छुट्टी देकर, उसके उपरान्त गंभीर हो, खिन्न हो, आशङ्का से परिपूर्ण हो, बैठकर रोने लगी।

अपूर्व को कोई खबर न देकर यह दोनों अनुतप्ता स्त्रियाँ उसकी प्रसन्नता की भीख माँगने के लिये कलकत्ते को चल पड़ीं। अपूर्व की माँ वहाँ पहुँच कर अपने दामाद के घर जा ठहरीं।

उस दिन मृण्मयी का पत्र पाने की आशा से निराश होकर, सन्ध्या के समय अपूर्व अपनी प्रतिज्ञा को भंग कर स्वयं ही उसे पत्र लिखने को बैठा था। कोई भी शब्द उसे पसन्द नहीं आ रहा था। वह एक ऐसा सम्बोधन ढूँढ़ रहा था, जिसके द्वारा पूर्ण प्रेम भी प्रकट

हो और अभिमान भी व्यक्त हो, ऐसा शब्द न मिलने से उसे अपनी मातृभाषा के ऊपर घोर अश्रृद्धा होने लगी। इसी समय उसे अपने बहनोई का पत्र मिला—"माँ आई हैं, शीघ्र आना और रात्रि के समय यहीं पर भोजन करना, समाचार सब अच्छे हैं।" अन्तिम आश्वासन होते हुए भी अपूर्व अमंगल की आशंका से उद्विग्न हो उठा, बिना विलम्ब किये ही वह अपनी बहिन के घर जा उपस्थित हुआ।

साक्षात् होते ही माँ से पूछा—"माँ! सब अच्छी तरह तो हैं।" माँ ने कहा—"सब ठीक हैं, तू छुट्टियों में घर नहीं गया, इसलिये मैं तुझे घर ले जाने को आई हूँ।"

अपूर्व ने कहा—"उसके लिए इतना कष्ट करके आने की क्या आवश्यकता थी? कानून की परीक्षा का लिखना-पढ़ना इत्यादि जो था।"

भोजन के समय बहिन ने पूछा—"दादा! आते समय बहू को अपने साथ ही क्यों नहीं लेते आये?"

भाई गम्भीर भाव से कहने लगा—"कानून का पढ़ना-लिखना, इत्यादि।"

बहनोई ने हँसते हुए कहा—"वह सब झूठे ऐतराज हैं, हम लोगों के भय से लाने का साहस नहीं हुआ।"

बहिन बोली—"आदमी भी तो भयानक हो, बच्चे कहीं अचानक देख लेते हैं, तो भय के मारे उन्हें बुखार आ जाता है।"

इस प्रकार हास-परिहास चलने लगा, परन्तु अपूर्व अत्यन्त उदास होकर बैठा रहा; उसे कोई भी बात अच्छी नहीं लग रही थी। उसके मन में विचार उठ रहे थे—जिस समय माँ कलकत्ते आ रही थीं, उस समय मृण्मयी चाहती तो अनायास ही इनके साथ आ सकती थी। जान पड़ता है माँ ने उसे साथ लाने की चेष्टा भी की, परन्तु वह तैयार नहीं हुई, इस सम्बन्ध में संकोचवश माता से कोई भी प्रश्न नहीं कर सका। मृण्मयी सम्पूर्ण मानव-जीवन एवं संसार की रचनाओं से आमूलचूल विपरीत व्यक्ति जान पड़ने लगी।

भोजनोपरान्त जोर से आँधी आई फिर घोर वर्षा होनी आरम्भ हो गई।

बहिन ने कहा—"दादा ! आज यहीं हमारे यहाँ रह जाओ।"

भाई ने कहा—"नहीं, घर जाना ही होगा, काम है।"

बहनोई ने कहा—"रात में तुम्हें ऐसा क्या काम है ? यहाँ एक रात ठहर कर जाने से तुम्हें किसी को जवाबदेही नहीं करनी पड़ेगी। तुम्हें चिन्ता क्या है ?"

बहुत कुछ कहने-सुनने के बाद अत्यन्त अनिच्छा होते हुए भी उस रात को अपूर्व वहीं ठहरने के लिये तैयार हो गया।

बहिन ने कहा—"दादा ! तुम थके हुए दीखते हो, तुम और देर मत करो। चलो, सोओ चलकर।"

अपूर्व की भी यही इच्छा थी कि अन्धकार के बीच शैया पर अकेला जाकर सो रहे, तो वह बच जाय। बात का जवाब देना भी उसे अच्छा नहीं लग रहा था।

शयनगृह के द्वार पर आकर देखा, घर में अँधेरा है। बहिन ने कहा—"आँधी से दीपक बुझ गया दिखाई देता है, सो दीपक ला दूँ क्या दादा ?"

अपूर्व ने कहा—"नहीं, आवश्यकता नहीं है। मैं रात में प्रकाश नहीं रखता।"

बहिन चली गई, अपूर्व अँधेरे में सावधानीपूर्वक चारपाई की ओर बढ़ा।

चारपाई पर बैठने के लिए प्रस्तुत होते ही उस समय अचानक चूड़ियों से खनकते हुए एक सुकोमल बाहुपाश ने उसे अत्यन्त कठिन बन्धन में बाँध लिया और एक पुष्प-दल के समान होठों ने चोर की भाँति आकर, अविरल अश्रुजल-सिक्त आवेगपूर्ण चुम्बन से उसे विस्मय प्रकट करने का अवसर भी नहीं दिया। अपूर्व पहले तो चौंक उठा, तदुपरान्त वह समझ सका कि पहिले की हास्य-बाधा की असम्पन्न चेष्टा आज अश्रुजल की धारा में समाप्त हो गई है।

फेल

सींग एवं पूंछ, राहु और केतु के परस्पर झगड़ने पर जैसा दिखाई देता है, यह भी ठीक वैसा ही है। प्राचीन हालदार-वंश दो खण्डों में विभक्त होकर, रहने के विशाल मकान के बीच एक दीवार खड़ी कर, एक दूसरे को पीठ देकर बैठ गया है, कोई किसी के मुँह को नहीं देखता।

नवगोपाल का लड़का नलिन एवं ननीगोपाल का लड़का नन्द एक ही वंश में उत्पन्न हुए हैं, एक ही आयु के हैं, एक ही स्कूल में जाते हैं एवं पारिवारिक विद्वेष एवं खींचातानी में भी दोनों के बीच पूर्णरूपेण ऐक्य है।

नलिन के पिता नवगोपाल बहुत कठोर व्यक्ति हैं। लड़के को चैन नहीं लेने देते, पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त और कोई बात नहीं करने देते। खेल, भोजन एवं साज-सज्जा (पहिरावा-उढ़ावा) के सम्बन्ध में उन्होंने लड़के को सब प्रकार से कापियों एवं स्कूली पुस्तकों के नीचे दबा रक्खा है।

नन्द के पिता ननीगोपाल की शासनप्रणाली अत्यन्त शिथिल है। माँ उसे खूब अच्छी तरह सजा कर स्कूल भेजती है, तीन-चार आने जलपान के लिए भी साथ ही दे देती है, नन्द भाजा-मसाला और कुल्फी की बरफ, लट्टू और काँच की गोलियाँ, इच्छानुसार खरीद कर तथा बाँट कर यशस्वी हो उठता है।

मन ही मन हार मान कर नलिन केवल यही सोचता है—नन्द के पिता यदि मेरे पिता हो जाते और मेरे पिता यदि नन्द के पितृ-स्थान पर अधिकार कर लेते तो मैं नन्द को मजा दिखा देता।

परन्तु, उस प्रकार का सुयोग घटने से पहले ही, इसी बीच नन्द वर्ष-प्रतिवर्ष प्राइज (पुरस्कार) प्राप्त करने लगा; नलिन खाली-हाथों घर लौट कर स्कूल के संचालकों को पक्षपात का दोष देने लगा। पिता ने उसे दूसरे स्कूल में भर्ती करवा दिया, घर पर दूसरा मास्टर रख दिया. सोने के समय में से एक घन्टा काट कर पढ़ने के समय में लगा दिया, किन्तु फल का तारतम्य नहीं बँधा। नन्द पास करते-करते बी० ए० में उत्तीर्ण हो गया, नलिन फेल होते-होते ऐन्ट्रेंस क्लास में ही पिंजरे में के चूहे के समान अटका पड़ा रहा।

इस समय उसके पिता ने उसके प्रति दया की। वे मर गये। तीन वर्ष की अवधि से माथापच्ची कराने वाले ऐन्ट्रेंस क्लास से उसकी मुक्ति हुई एवं स्वाधीन नलिन अँगूठी, बटन एवं घड़ी की चेन को आद्योपान्त चमचमाती हुई करके, नन्द को अत्यन्त निस्तेज कर देने की चेष्टा करने लगा। ऐन्ट्रेंस-फेल की चार घोड़ों की बग्घी बी० ए० पास की एक घोड़े की गाड़ी को अनायास ही पीछे छोड़ कर बढ़ने लगी; विश्वविद्यालय के उपाधिधारी के घोड़े के साथ वह समान गति से नहीं चल पाया।

इधर नलिन एवं नन्द के विवाह के हेतु वधू की खोज चल रही थी। नलिन की प्रतिज्ञा थी कि वह ऐसी कन्या से विवाह करेगा जिसकी उपमा मिलना कठिन हो; उसकी बग्घी और उसकी स्त्री के समक्ष नन्द को हार माननी ही पड़ेगी।

सबसे श्रेष्ठ वस्तु पाने की जिसकी आकांक्षा होती है उसे अनेक श्रेष्ठ वस्तुएँ छोड़ देनी पड़ती हैं। समीप की किसी भी लड़की को पसन्द करके किस्सा खतम कर देने का साहस नलिन को नहीं हुआ, ताकि पीछे कोई और भी अच्छी लड़की उसे धोखा देकर किसी अन्य के साथ विवाह न कर सके।

अन्त में खबर मिली, रावलपिण्डी में एक प्रवासी-बंगाली की एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या है। समीप की सुन्दरी की अपेक्षा दूर

की सुन्दरी मन को अधिक लुभाती है । नलिन उन्मत्त हो उठा, खर्च-पत्र देकर कन्या को कलकत्ता बुला लिया । कन्या सुन्दरी थी । नलिन ने कहा—"कोई कुछ भी करे, परन्तु रावलपिंडी से भी आगे बढ़ जाने की हिम्मत किसी में नहीं है । कम से कम इस बात को कोई नहीं कह सकता कि इस लड़की को हमने पहले ही देखा था, पसन्द न होने के कारण ही सम्बन्ध नहीं किया ।"

बात चीत एक प्रकार से स्थिर (तय) हो गई, पान-पत्र (वस्त्राभूषण) का आयोजन होने लगा, इसी बीच एक दिन प्रातःकाल देखा गया, ननीगोपाल के मकान से विचित्र थालों में विविध प्रकार की सौगातें लिये हुए दास-दासियों का दल पंक्ति बाँधे चला जा रहा है ।

नलिन ने कहा—"देखकर तो आओ, क्या बात है ?"

ख़बर मिली—"नन्द की भावी-वधू के लिये पान-पत्र (वस्त्राभूषण) जा रहे हैं ।"

नलिन उसी समय हुक्का पीना बन्द कर, आश्चर्यचकित हो उठ बैठा; बोला—"पूरा समाचार तो ले आओ ।"

उसी समय भाड़े की गाड़ी कर झटपट दूत छूट पड़े । विपिन हाजरा ने वापिस आकर कहा—"कलकत्ते की लड़की है, परन्तु विशिष्ट लड़की है ।"

नलिन की छाती बैठ गई, कहा—"क्या कहते हो ?"

हाजरा ने केवल इतना ही कहा—"विशिष्ट लड़की है ।"

नलिन बोला—"तब तो देखनी चाहिए ।"

पारिषद बोला—"यह क्या कठिन है ।" कहकर उसने तर्जनी और अंगूठे से एक काल्पनिक रुपया बजाया ।

अवसर पाकर नलिन ने लड़की को देखा । तभी मन में हुआ—यह लड़की नन्द के लिये एक बार में ही स्थिर हो गई, इससे जान पड़ता है, यह रावलपिण्डी वाली लड़की से भी अच्छी है । द्विविधा में पड़कर नलिन ने पारिषद से पूछा—"यह कैसी लगी ?"

हाजरा ने कहा—"जी, हमारे नेत्रों को तो अच्छी लगी।"

नलिन ने कहा—"वह अच्छी है कि यह अच्छी है ?"

हाजरा ने कहा—"यही अच्छी है।"

उस समय नलिन को जान पड़ा—इसके नेत्रों की पलकें उससे भी अधिक बड़ी हैं, उसका रंग इसकी अपेक्षा बहुत फीका है, इसका गौर-वर्ण एक प्रकार से जैसे हल्दी और स्वर्ण की आभा से मिश्रित है। इसको तो हाथ से नहीं छोड़ा जा सकता।

नलिन ने उदास-चित्त हो, हुक्का पीते-पीते कहा—"अरे हाजरा! क्या करना चाहिये, बताओ तो ?"

हाजरा बोला—"महाराज! कठिनाई क्या है ?" कह कर उसने पुनः अँगूठे और तर्जनी को मिलाकर काल्पनिक रुपया बजा दिया।

जब रुपया सचमुच ही बज उठा, उस समय यथोचित फल प्राप्त होने में देर न लगी। कला के पिता ने एक अकारण ही कोई बात उठाकर वर के पिता से भारी झगड़ा कर लिया। वर के पिता ने कहा—"तुम्हारी कन्या के साथ अपने पुत्र का विवाह यदि करूँ तो..." इत्यादि, इत्यादि।

कन्या के पिता ने और भी एकगुणा अधिक करके कहा—"तुम्हारे पुत्र के साथ यदि मैं अपनी कन्या का विवाह करूँ तो......" इत्यादि, इत्यादि।

इसके उपरान्त और विलम्ब न करके नलिन ने नन्द को सींग दिखाकर, शुभ लग्न में शुभ-विवाह शीघ्र सम्पन्न करा डाला और हँसते हँसते हाजरा से बोला "बी० ए० पास इसी को कहते हैं ? क्या कहते हो हाजरा ? इस बार हमारे और मकान के बड़े बाबू फेल हो गये।"

कुछ समय पश्चात् ही एक दिन नवगोपाल के मकान में ढप, ढोल और शहनाई बज उठे। नन्द के शरीर पर हल्दी चढ़ गई।

नलिन ने कहा—"अरे हाजरा ! खबर तो लाओ कि वधू कौन सी है ?'

हाजरा ने आकर खबर दी—"वधू वही रावलपिण्डी वाली लड़की है ।"

"रावलपिण्डी की लड़की ! हा...हा...हा..." नलिन खूब हँसने लगा—"उन घर के बड़े बाबू को दूसरी लड़की नहीं मिली ? हमारी ही परित्यक्ता-वधू से विवाह कर रहे हैं ?" हाजरा भी खूब हँसा ।

परन्तु, उत्तरोत्तर नलिन की हँसी में उतना जोर नहीं रहा । उसकी हँसी में कीड़े घुस गये । एक छोटा-सा संशय तीक्ष्ण-स्वर में कानों में घुस-घुस कर कहने लगा—"हाय, हाथ से निकल गई । अन्त में नन्द के भाग्य से ही जा बँधी ।" छोटा-सा संशय क्रमशः खून पीकर मोटी होने वाली जोंक के समान बड़ा होने लगा, उसका कण्ठ स्वर भी भारी हो गया । वह बोला—"अब उसे किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता, परन्तु वास्तव में वही देखने में सुन्दर थी । बहुत ठगा गया ।"

जब नलिन अन्तःपुर में भोजन करने के लिए गया, उस समय उसकी स्त्री की छोटी-बड़ी समस्त त्रुटियाँ विशाल रूप धारण कर उसका उपहास करने लगीं । मन में ऐसा लगा—'स्त्री ने उसे बुरी तरह ठगा है ।'

रावलपिण्डी से जिस समय सम्बन्ध की बात चल रही थी, उस समय नलिन ने उस लड़की का जो फोटो प्राप्त किया था, उसे वह बाहर निकाल कर देखने लगा । "वाह, वा, अपूर्व रूप माधुरी है, ऐसी लक्ष्मी को हाथ में पाकर गँवा दिया, मैं इतना बड़ा गधा हूँ ।"

विवाह की सन्ध्या को जगमगाते हुए प्रकाश एवं बजते हुए बाजों के साथ दूल्हा बग्घी में बैठ कर बाहर निकला । नलिन लेटा-लेटा हुक्के द्वारा यत्किञ्चित् सान्त्वना प्राप्त करने की निष्फल चेष्टा कर रहा था,

उसी समय हाजरा ने प्रसन्नमुख हँसते-हँसते आकर नन्द को लक्ष्य करते हुए परिहास करने की चेष्टा की।

नलिन ने पुकारा—"दरबान!"

हाजरा ने तटस्थ रह कर दरबान को बुला दिया।

बाबू ने हाजरा को दिखाते हुए कहा—"अभी इसको कान पकड़ कर बाहर निकाल दो।"

घाट की बात

★

पत्थरों पर घटनाएँ यदि अंकित रहतीं तो कितने ही दिनों की कितनी ही बातें मेरी प्रत्येक सीढ़ी पर पढ़ी जा सकतीं। पुरानी बातें यदि सुनना चाहते हो तो मेरी इन्हीं सीढ़ियों पर बैठ जाओ, मन लगा कर जल की लहरों की ओर कान लगा दो, प्राचीनकाल की कितनी ही विस्मृत बातें सुन पाओगे।

मुझे और एक दिन की बात याद आ रही है। वह भी ठीक ऐसा ही दिन था। आश्विन मास के आने में और दो-चार दिन बाकी थे। सबेरे के समय यत्किञ्चित् मधुर नवीन शीतकाल की वायु नींद से जगे हुओं के शरीर में नवीन प्राण ला रही थी। वृक्षों के पत्ते जैसे कुछ-कुछ सिहर से उठते थे।

गंगा भरी हुई थी। मेरी केवल चार सीढ़ियाँ ही पानी के ऊपर जग रहीं थीं। जल के साथ, स्थल की जैसे गलबहियाँ पड़ रही हों। तट पर आम के बगीचे के नीचे जिस जगह अरुई का वन जन्मा था, वहाँ तक गंगा का जल जा पहुँचा था। नदी के उस मुहाने के पास तीन पुरानी ईंटों के भट्टे चारों ओर जल के बीच जग (उभर) रहे थे।

धीवरों की जो नावें किनारे के बबूल वृक्षों के साथ बँधी हुई थीं, वे सब प्रातःकालीन ज्वार के पानी पर तैरती हुई डगमगा रही थीं—चञ्चल-यौवनपूर्ण ज्वार का पानी रँगीला बन कर उनके दोनों ओर छल-छल आघात कर रहा था; उनके कानों को पकड़ कर मधुर परिहास से हिलाता हुआ चला जा रहा था।

भरी हुई गंगा के ऊपर शरद्-ऋतु के प्रभात की जो धूप पड़ रही थी, उसका कच्चे सोने जैसा रंग, चम्पा के फूल जैसा रंग था। धूप का ऐसा रंग और किसी समय नहीं देखा जाता। रेत के ऊपर जमे काँस-बन के ऊपर धूप पड़ रही थी। इस समय तक काँस के फूल सब नहीं खिले थे, खिलना आरम्भ ही किया था केवल।

राम-राम कहकर मल्लाहों ने नौकाऐं खोल दीं। पक्षी जिस प्रकार प्रकाश में पंख फैला कर आनन्दपूर्वक नील-आकाश में उड़ते हैं, छोटी-छोटी नौकाऐं उसी प्रकार छोटे-छोटे पाल फुला कर सूर्य किरणों में निकल पड़ीं। वे सब पक्षी जैसी ही लग रहीं थीं, वे सब राजहंसों के समान जल पर तैर रहीं थीं; परन्तु आनन्द के कारण दोनों पंखों को आकाश में छोड़ दिया था।

भट्टाचार्य महाशय ठीक नियमित समय पर पंचपात्र लिए हुए स्नान करने को आये थे। स्त्रियाँ भी दो-एक करके जल भरने को आईं थीं।

वह बहुत अधिक दिनों की बात नहीं है। तुम लोगों को भले ही बहुत दिनों की बात मन में लगे। परन्तु मेरे मन को लगती है—यह उसी दिन की बात है। मेरे दिन तो गंगा के प्रवाह के ऊपर खेलते-खेलते बह जाते हैं, बहुत समय से, स्थिर भाव से इसी को देख रहा हूँ—इसीलिए समय बहुत अधिक हो गया, ऐसा नहीं लगता। मेरे दिन का प्रकाश एवं रात्रि की छाया प्रतिदिन गंगा के ऊपर पड़ती है, फिर प्रतिदिन गंगा के ऊपर से मिट जाती है—कहीं भी उनका चित्र नहीं रक्खा जा सकता। इसीलिए, यद्यपि मुझे वृद्ध के समान देखा जाता है, मेरा हृदय चिर-नवीन है। बहुत वर्षों की स्मृति रूपी काई के भार से आच्छादित होकर मेरी सूर्य किरणें मर कर नहीं गिर पड़तीं। दैवयोग से एक छिन्न काई का टुकड़ा बहता हुआ आकर शरीर से लग कर रह जाता है, फिर प्रवाह में बह जाता है। उसके कारण 'यह कुछ नहीं है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। जहाँ पर गंगा का प्रवाह

नहीं पहुंचता वहाँ मेरे छेदों में जो लता, गुल्म, काई पैदा हो जाते हैं, वे ही मेरे प्राचीनत्व की साक्षी हैं, वे सब ही प्राचीनकाल को स्नेह-पाश में बांध कर सदैव श्यामल, मधुर, सदैव नवीन बनाये रखते हैं। गंगा प्रतिदिन मेरे पास से एक-एक सीढ़ी उतरती चली जाती है, मैं भी एक-एक सीढ़ी करके प्राचीन होता जाता हूँ।

चक्रवर्ती के घर की वह जो वृद्धा स्नान करके रामनामी ओढ़े काँपती-काँपती माला जपती-जपती घर को लौट कर जा रही है, उसकी नानी उस समय इतनी ही बड़ी थी। मुझे याद है, उसका एक खेल था, वह प्रतिदिन एक घृतकुमारी (घी कुँवार) का एक पत्ता गंगा के पानी में बहा देती थी, मेरी दक्षिण बाहु के पास एक भँवर सा था, उस स्थान पर पत्ता क्रमशः घूमता-घूमता बहता रहता, वह कलशी (गगरी) रख कर, खड़ी हो उसी को देखती रहती। जब देखा, कुछ दिन बाद वही लड़की फिर बड़ी होकर अपनी ही एक लड़की को संग लेकर पानी भरने आई, वह लड़की भी फिर बड़ी हो गई, बालिकाओं को पानी उछाल कर ऊधम मचाते समय वह भी फिर उन पर शासन करती और समयोचित व्यवहार की शिक्षा देती, उस समय मुझे वही घृतकुमारी के पत्ते की नौका बहाना याद आता और बड़ा कौतुक बोध होता।

जो बात कहना चाहता हूँ, वह फिर आती ही नहीं। एक बात कहते-कहते प्रवाह में एक दूसरी ही बात बह आती है। बात आती है, बात जाती है, पकड़ कर नहीं रख पाता। केवल एक-एक कहानी उसी घृतकुमारी की नौकाओं के समान भंवर में पड़कर बार-बार लौट आती है। उसी तरह एक कहानी अपना विस्तार लेकर आज मेरे पास लौट-लौट कर बह रही है; किस समय डूबेगी, किस समय डूबेगी। पत्ते के टुकड़े के समान वह बहुत छोटी है, उससे अधिक कुछ नहीं है, दो खेलने के फूल हैं। उसे डूबते देख कर कोमल-प्राण बालिका एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर घर लौट जायेगी।

मन्दिर के पास जहाँ पर वह गुसांइयों की गोशाला का बेड़ा

दिखाई देता है, उस स्थान पर एक बबूल का पेड़ था। उसी के नीचे सप्ताह में एक दिन के हिसाब से पैंठ लगती थी। उस समय भी गुसांई लोग यहाँ रहते नहीं थे। जिस स्थान पर उन लोगों का चण्डी-मण्डप है, उस स्थान पर एक घास-फूँस की झोंपड़ी मात्र थी।

यह जो बरगद का वृक्ष आज मेरी पसली-पसली में बाँहें फैलाकर, अत्यन्त विकट, सुदीर्घ, कठिन अंगुलि-जाल के समान जड़ों द्वारा मेरे विदीर्ण पाषाण-प्राण को मुट्ठी में दबाकर रक्खे हुए है, यह उस समय इतना एक छोटा सा पौधा था। कच्ची-कच्ची (हरी-हरी) पत्तियों को लिए सिर उठा कर खड़ा हो रहा था। धूप चढ़ने पर इसके पत्तों की छाया मेरे ऊपर सारे दिन पड़ी हुई खेल करती, इसकी नई जड़ें शिशु की उँगलियों की भाँति मेरी छाती के पास किल्-बिल करतीं। कोई इसका एक पत्ता तोड़ता तो मुझे पीड़ा होती।

यद्यपि आयु बहुत हो चुकी थी, तो भी उस समय मैं सीधा था। आज जिस प्रकार मेरुदण्ड टूट कर अष्टावक्र की भांति टेढ़ा-मेढ़ा हो गया है, गहरी त्रिवली-रेखाओं की भाँति हजारों जगह से दरारें पड़ गई हैं, मेरे गर्भ के भीतर संसार भर के मेंढ़क अपनी शीतकालीन सुदीर्घ-निद्रा का आयोजन करते हैं, उस समय मेरी ऐसी दशा नहीं थी। केवल मेरी बाँई भुजा के बाहरी ओर दो ईंटों का अभाव था, उस गड्ढे के भीतर एक चिड़िया ने घोंसला बना लिया था। सबेरे के समय जब वह करवट बदलती हुई जग उठती, मछली की पूंछ की तरह अपनी डबल पूंछ को दो-चार बार शीघ्रतापूर्वक नचाकर सीटी देती हुई आकाश को उड़ जाती, उस समय मैं जानता कि कुसुम के घाट पर आने का समय हो गया है।

जिस लड़की की बात कह रहा हूँ, घाट की अन्य लड़कियाँ उसे कुसुम कहकर पुकारती थीं। समझ गया, कुसुम ही उसका नाम होगा। पानी के ऊपर जिस समय कुसुम की छोटी सी छाया पड़ती, उस समय मुझे साध होती, उस छाया को यदि पकड़ कर रख सकूँ, वह छाया

यदि अपने पत्थरों से बाँध कर रख सकूँ—ऐसी उसकी एक माधुरी थी। वह जिस समय मेरे पत्थरों के ऊपर पाँव रखती, और उसके पाँवों के घुंघरू बजने लगते, उस समय मेरी काई-गुल्म आदि जैसे पुलकित हो उठते। कुसुम कोई बहुत अधिक खेल करती हो, या गल्प करती हो, या हँसी-तमाशा करती हो सो बात नहीं है; तथापि यही आश्चर्य है, उसकी जितनी संगिनी (सहेलियाँ) थीं, वैसी और कोई भी नहीं थी। जैसे चंचल लड़कियां उसके न होने पर चलती ही नहीं थीं। कोई उसको कहती 'कुसी', कोई उसको कहती 'खुशी', कोई उसको कहती 'राक्षसी'। उसकी माँ उससे कहती 'कुस्मी'। जब तब देखता—कुसुम पानी के किनारे बैठी है। पानी के साथ उसके हृदय का जैसे कोई विशेष सम्बन्ध हो। वह पानी को बहुत प्यार करती थी।

कुछ दिन बाद कुसुम को फिर देख नहीं सका। 'भुवन' और 'स्वर्ण' घाट पर आकर रोतीं। सुना, उनकी कुसी-खुशी-राक्षसी को ससुराल ले जाया गया है। सुना, जिस जगह उसे ले जाया गया है, वहाँ पास ही गंगा नहीं है। उस जगह नये सिरे के सब नये लोग हैं, नया घर-मकान है, नये राह-घाट हैं। पानी के कमल को जैसे कोई ऊसर में रोपने के लिये ले गया है।

क्रमशः कुसुम की बात एक प्रकार से भूल गई। एक वर्ष बीत गया। घाट की लड़कियाँ कुसुम की कहानी नहीं छेड़तीं। एक दिन सन्ध्या के समय चिर-परिचित पांवों के स्पर्श से अचानक ही जैसे चौंक पड़ा। मन को लगा, जैसे कुसुम के पाँव हैं। वे ही थे, परन्तु उन पांवों में अब घुंघरू नहीं बजते थे। उन पाँवों में वह संगीत नहीं था। कुसुम के पाँवों का स्पर्श और घुंघरू का शब्द बहुत समय तक एकत्र (एक साथ) अनुभव करता आया था—आज अचानक उन घुंघरुओं के शब्द को न सुन पाकर, सन्ध्याकालीन जल की कल्लोल कैसी विषण्ण सुनाई पड़ने लगी, आम्र के बगीचे में पत्तों को झनझनाती हुई वायु कैसा हा हा कार कर उठी।

कुसुम विधवा हो गई थी। सुना, उसका पति परदेश में नौकरी करता था; दो-एक दिन छोड़ कर पति के साथ साक्षात् ही नहीं हुआ। पत्र के द्वारा वैधव्य का सम्वाद पाकर आठ वर्ष की आयु में माथे का सिंदूर पोंछ कर, शरीर से गहने उतार कर, फिर अपने देश में उसी गंगा के किनारे लौट आई है। परन्तु उसकी सहेलियों में भी बड़ी कोई नहीं है। भुवन, स्वर्ण तथा अमला ससुराल को चली गई हैं। केवल शरद् है, परन्तु सुनते हैं अगहन मास में उसका भी विवाह हो जायेगा। कुसुम नितान्त अकेली पड़ गई। परन्तु, वह जिस समय दोनों घुटनों के ऊपर मस्तक रख कर चुपचाप मेरी सीढ़ियों पर बैठी होतीं, उस समय मुझे लगता, जैसे नदी की लहरें सब मिलकर, हाथ उठाये हुए उसे कुसी-खुशी-राक्षसी कह कर पुकार रही हों।

वर्षा के आरम्भ में गंगा जिस प्रकार प्रतिदिन देखते-देखते भर उठती है, कुसुम उसी प्रकार देखते-देखते प्रतिदिन सौन्दर्य एवं यौवन से भर उठने लगी। परन्तु उसके वस्त्र, करुण मुख एवं शान्त स्वभाव ने उसके यौवन के ऊपर एक ऐसे छायामय आवरण की रचना कर दी कि वह यौवन, वह विकसित रूप साधारण व्यक्ति की दृष्टि में नहीं पड़ता। कुसुम बड़ी हो गई है, इसे जैसे कोई नहीं देख पाता। मैं भी तो नहीं देख पाता। मैंने कुसुम को उसी बालिका की अपेक्षा बड़ा कभी नहीं देखा। उसके घुँघरू तो नहीं थे, परन्तु वह जिस समय चलती, मैं उन्हीं घुँघरूओं का शब्द सुन पाता। इस प्रकार दस वर्ष किस समय कट गये, गाँव के लोगों में कोई जैसे जान ही नहीं पाया।

यही आज जैसा देख रहा हूँ, उस वर्ष भी भादों मास के अन्त में ऐसा ही एक दिन आया। तुम लोगों की पर-दादियों ने उस दिन सबेरे ही उठ कर, इसी तरह का मधुर सूर्य का प्रकाश देख पाया था। वे सब जिस समय इतना ही घूँघट खींच कर गगरी उठाये हुए मेरे ऊपर के प्रभात के प्रकाश को और भी प्रकाशमय करने के लिए, पेड़ पौधों के बीच होती हुईं, गाँव की ऊँची-नीची सड़कों पर चलती हुईं,

बातें करती-करती चली आ रही थीं, उस समय तुम लोगों की सम्भावना भी, उनके मन के एक कोने में भी उदय नहीं हो रही थी। तुम लोग जैसे ठीक सोच भी नहीं सकते, तुम लोगों की दादियाँ भी सचमुच ही एक दिन खेल करती हुई भागती थीं, आज का दिन जिस प्रकार सत्य है, जिस प्रकार जीवन्त है, वह दिन भी ठीक उसी प्रकार सत्य था, तुम लोगों के समान तरुण-हृदय लिए सुख-दुःख से, वे भी तुम लोगों के ही समान डगमगाती हुई झूली थीं, उसी प्रकार आज का यह शरद् ऋतु का दिन—उनसे रहित, उनके सुख-दुख की स्मृतियों के लेशमात्र से भी रहित; आज का यह शरद ऋतु के सूर्य की किरणों से उज्ज्वल आनन्दपूर्ण चित्र—उनकी कल्पना के समीप उसकी (कल्पना की) अपेक्षा भी अगोचर था।

उस दिन सबेरा होने से पहले ही उत्तरी-वायु धीरे-धीरे बहना आरम्भ कर, खिले हुए बबूल के फूलों को उड़ाती हुई एकाध को मेरे ऊपर फेंक रही थी। मेरे पत्थरों के ऊपर कुछ-कुछ ओस की बूँदें पड़ी हुई थीं। उसी दिन प्रातःकाल कहीं से गौर-शरीर, सौम्य-उज्ज्वल-मुखच्छवि, दीर्घकाय एक नवीन सन्यासी ने आकर मेरे सामने वाले उस शिव-मंदिर में आश्रय ग्रहण किया। सन्यासी के आगमन की बात से गाँव में धूम मच गई। स्त्रियों ने गगरी रख कर, बाबाजी को प्रणाम करने के लिए मन्दिर में जाकर भीड़ कर दी।

भीड़ प्रतिदिन बढ़ने लगी। एक तो सन्यासी, उस पर अनुपम रूप, उस पर वे किसी की भी अवहेलना नहीं करते, बच्चों को गोद में लेकर बैठाते, माताओं से घर गृहस्थी की बातें पूछते। नारी-समाज में थोड़े ही समय में उनकी अत्यन्त प्रतिष्ठा हो गई। उनके पास पुरुष भी बहुत आते। किसी दिन भागवत का पाठ करते, किसी दिन भगवद्‌गीता की व्याख्या करते, किसी दिन मन्दिर में बैठ कर अनेकों शास्त्रों को लेकर चर्चा करते। उनके समीप कोई उपदेश लेने आता, कोई मन्त्र लेने आता। कोई बीमारी की औषधि जानने को आता। स्त्रियाँ घाट पर

आकर वार्त्तालाप करतीं—"अहा, क्या रूप है ? लगता है जैसे महादेव जी शरीर धारण कर अपने मन्दिर में आकर प्रतिष्ठित हो गये हैं ।"

जिस समय सन्यासी प्रतिदिन उषःकाल में सूर्योदय से पूर्व, शुक्र-तारा को सम्मुख रख कर, गंगा के जल में खड़े हो, धीर-गम्भीर स्वर में सन्ध्या-वन्दन करते, उस समय मैं जल की कल्लोल नहीं सुन पाता, उनके उस कण्ठ स्वर को सुनते-सुनते प्रतिदिन गंगा के पूर्व की ओर आकाश रक्त वर्ण हो उठता, बादलों के किनारे-किनारे लाल-रंग की रेखाऐं पड़ जातीं, अन्धकार जैसे विकासोन्मुख कली के आवरणपट की भाँति फट कर चारों ओर से झुक जाता और आकाश-सरोवर के उषा-कुसुम की लाल-आभा थोड़ी-थोड़ी करके बाहर निकल आती । मुझे लगता जैसे; यह महापुरुष गंगा के पानी में खड़े हो, पूर्व दिशा की ओर देख कर, जो एक महामन्त्र पढ़ते हैं, उसके एक-एक शब्द का उच्चारण होने के साथ ही फिर रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है, चाँद-तारे पश्चिम में झुक जाते हैं, सूर्य पूर्व की ओर आकाश में उठने लगता है—संसार का दृश्य-पट परिवर्तित हो जाता है । यह कौन मायावी है ? स्नान करके जिस समय सन्यासी होम शिखा के समान दीर्घ, शुभ्र, पुण्य-शरीर लेकर जल से निकलते, उनके जटाजूटों से जल झर कर गिरने लगता, उस समय नवीन-सूर्य की किरणें उनके सर्वांग पर गिरकर प्रतिफलित होतीं (चमचमाती) रहतीं ।

इस प्रकार और भी कई महीने कट गये । चैत के महीने में सूर्य ग्रहण के समय बहुत से लोग स्नान को आये, बबूल के नीचे भारी पैंठ (हाट) लगी । इस उपलक्ष्य में सन्यासी को देखने के लिए भी लोगों का आगमन हुआ । जिस गाँव में कुसुम की ससुराल थी, वहाँ से भी अनेकों स्त्रियाँ आईं थीं ।

प्रातःकाल मेरी सीढ़ियों पर बैठे हुए सन्यासी जप कर रहे थे, उन्हें देखते ही अचानक एक स्त्री एक दूसरी स्त्री के शरीर को नोंचती हुई बोल उठी—"अरी, यह तो हमारी कुसुम के पति हैं ।

एक और स्त्री दो उँगलियों से घूँघट को कुछ फांक देती हुई बोल उठी—"अरी मैया, वही तो हैं, यह तो हमारे चटर्जियों के घर के छोटे बाबू हैं।"

एक और स्त्री घूंघट को अधिक बड़ा नहीं समझती थी; उसने कहा—"अहा, वैसा ही मस्तक, वैसी ही नाक, वैसी ही आँखें।"

एक और स्त्री सन्यासी की ओर बिना देखे ही निःश्वास छोड़ती हुई गगरी से पानी को धकेलती हुई बोली—"हाय, वे क्या फिर आये हैं, वे क्या फिर आयेंगे? कुसुम का भाग्य क्या वैसा है?"

उसी समय किसी ने कहा—"उनके इतनी दाढ़ी नहीं थी।"

कोई बोली—"वे ऐसे इकहरे शरीर के नहीं थे।"

किसी ने कहा—"वे इतने लम्बे नहीं थे।"

इस प्रकार बात का एक प्रकार से फैसला हो गया, फिर नहीं उठ सकी। गाँव के और सभी लोगों ने सन्यासी को देखा था, केवल कुसुम ने नहीं देखा था। बहुत लोगों का समागम होने के कारण कुसुम ने मेरे पास आना एकदम त्याग दिया था। एक दिन सन्ध्या के समय पूर्णिमा तिथि के चाँद को उठते हुए देख कर शायद हमारा पुराना सम्बन्ध उसे याद आ गया।

उस समय घाट पर और कोई व्यक्ति नहीं था। झींगुर झनकार रहे थे। मन्दिर का काँसे का घण्टा बजे हुए भी कुछ देर हो गई। उसकी अन्तिम शब्द—तरंग क्षीणतर होती हुई दूसरे किनारे की वनश्रेणी के बीच छाया के समान विलीन हो गई। भरपूर चांदनी थी। ज्वार का पानी छल्-छल् कर रहा था। मेरे ऊपर छाया फैलाती हुई कुसुम आ बैठी। वायु अधिक नहीं थी, पेड़ पौधे निस्तब्ध थे। कुसुम के सम्मुख गंगा के वक्ष पर दूर तक फैली हुई चांदनी—कुसुम के पीछे, आसपास, सहारे सहारे, पेड़ पत्तों पर, मन्दिर की छाया में, टूटे फूटे मकानों की दीवाल के पास, तालाब के किनारे, ताड़ के वृक्षों के नीचे, अन्धकार शरीर ढांक कर, मुँह मोड़े हुए बैठा

था । छतिवन वृक्ष की डाली पर चमगादड़ झूल रहे थे । मन्दिर के शिखर पर बैठा हुआ उल्लू रो उठा था । बस्ती के समीप गीदड़ों (सियारों) की ऊर्ध्व-चीत्कार-ध्वनि उठी और थम गई ।

सन्यासी धीरे-धीरे मन्दिर के भीतर से निकल कर बाहर चले आये । घाट पर आ, दो एक सीढ़ी उतर, एकाकिनी-रमणी को देखकर लौट जाने की सोच रहे थे, इसी समय अचानक कुसुम ने मुँह उठाकर पीछे की ओर देखना चाहा ।

उसके माथे का वस्त्र सरक गया । ऊर्ध्वमुख प्रस्फुटित पुष्पों के ऊपर जिस प्रकार चाँदनी पड़ रही थी, मुँह उठाते ही कुसुम के मुख पर भी उसी प्रकार चाँदनी पड़ी । उसी क्षण दोनों ने एक दूसरे को देख लिया । जैसे जान-पहिचान हो गई । मन को लगा जैसे पूर्व जन्म का परिचय हो ।

मस्तक के ऊपर होकर उल्लू चिल्लाता हुआ चला गया । उस शब्द से चकित हो, आत्मसम्वरण कर, कुसुम ने मस्तक के ऊपर कपड़ा डाल लिया । उठकर सन्यासी के पाँवों के समीप गिरकर प्रणाम की ।

सन्यासी ने आशीर्वाद देकर उससे जिज्ञासा की—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

कुसुम ने कहा—"मेरा नाम कुसुम है ।"

उस रात और कोई बात नहीं हुई । कुसुम का घर बहुत पास ही था । कुसुम धीरे-धीरे चली गई । उस रात सन्यासी बहुत देर तक मेरी सीढ़ियों पर बैठे रहे । अन्त में जब पूर्व का चाँद पश्चिम में आगया, सन्यासी के पीछे की छाया सामने आकर पड़ने लगी, उस समय वे उठकर मन्दिर में जाकर प्रविष्ट हो गये ।

उसके दूसरे दिन से मैं देखने लगा—कुसुम प्रतिदिन आकर सन्यासी की पद-धूलि ले जाती । सन्यासी जिस समय शास्त्र-व्याख्या करते, उस समय वह एक ओर खड़ी रहकर सुनती । सन्यासी प्रातः-सन्ध्या समाप्त कर कुसुम को बुलाकर उससे धर्म की बातें कहते । सब बातें वह क्या

समझ पाती ? परन्तु अत्यन्त मनोयोग पूर्वक बैठी वह सुनती रहती; सन्यासी उसे जिस प्रकार उपदेश करते, वह ज्यों-का-त्यों उसका पालन करती। प्रतिदिन वह मन्दिर का काम करती, देव-सेवा में आलस्य नहीं करती, पूजा के फूल चुनती, गंगा से जल लाकर मन्दिर को धोती।

सन्यासी उसे जितनी भी बातें बता देते, मेरी सीढ़ियों पर बैठ कर वह उन्हीं को सोचती। धीरे-धीरे उसकी दृष्टि जैसे विस्तृत होगई; हृदय उद्‌घटित हो (खुल) गया। उसने जो देखा नहीं था, उसे देखने लगी; जो सुना नहीं था, उसे सुनने लगी। उसके प्रशान्त मुख पर जो एक म्लान छाया थी, वह दूर हो गई। वह जिस समय भक्ति-भाव से प्रातःकाल सन्यासी के पाँवों के समीप लोट जाती, उस समय उसे देवता के समीप उत्सर्ग किये हुए (चढ़ाये गये) ओस से धुले पूजा-पुष्प की भाँति देखा जाता। एक निर्मल प्रफुल्लता उसके सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित कर देती।

शीत ऋतु के इन अवसान (अंतिम) के दिनों में शीतल-हवा बहती और किसी-किसी दिन सन्ध्या के समय अचानक ही दक्षिण से वसन्त की हवा आ मिलती, आकाश में ओस का भाव एकदम दूर हो जाता—बहुत दिनों बाद गाँव के बीच वंशी बज उठती, गीतों के शब्द सुनाई पड़ जाते। माझी बहाव में नौका डालकर, डाँड़ बन्द कर, श्याम (कृष्ण) के गीत गाने लगते। एक डाली से दूसरी डाली पर फुदकते हुए पक्षी अचानक परम उल्लास से उत्तर-प्रत्युत्तर करना आरम्भ कर देते। समय इस प्रकार का आगया।

वसन्त की वायु लगने से मेरे पाषाण-हृदय के बीच धीरे-धीरे जैसे यौवन का संचार होरहा था; मेरे प्राणों में अन्तर्निहित उसी नव-यौवनोच्छ्‌वास के आकर्षण से जैसे लता-गुल्म देखते-देखते फूल-फूलकर एक बारगी विकसित हो उठे। इस समय मैं कसुम को फिर नहीं देख पाया। कुछ दिनों से वह फिर मंदिर में नहीं आती, घाट पर भी नहीं आती, सन्यासी के पास उसे फिर नहीं देखा जाता।

इसी बीच क्या हुआ, मैं कुछ भी नहीं जान सका। कुछ समय पश्चात् एक दिन सन्ध्याबेला में मेरी ही सीढ़ियों पर सन्यासी-सहित कुसुम का साक्षात्कार हुआ।

कुसुम ने मुँह नीचा करके कहा—'प्रभु ! मुझे क्या बुला भेजा है ?'

"हाँ, तुम्हें देख क्यों नहीं पाता ? आजकल देव-सेवा में तुम्हारी इतनी अवहेलना क्यों है ?"

कसुम ने कुछ मुँह फिरा कर कहा—"प्रभु ! मैं पापिनी हूँ, इसीलिये यह अवहेलना है।"

सन्यासी अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वर में बोले—"कसुम ! तुम्हारे हृदय में अशांति उपस्थित हुई है, मैं उसे समझ रहा हूँ।"

कुसुम जैसे चौंक उठी—उसने शायद मन में सोचा, सन्यासी ने न जाने कितना (क्या) समझ लिया है ? उसकी आँखें धीरे-धीरे पानी से भर आईं, वह उसी जगह बैठ गई, मुँह को आँचल से ढंक कर, सीढ़ियों पर सन्यासी के पांवों के पास बैठी हुई रोने लगी।"

सन्यासी ने कुछ दूर सरकते हुए कहा—"अपनी अशांति की बात मुझसे पूर्णतः स्पष्ट करके कहो, मैं तुम्हें शांति का मार्ग दिखा दूँगा।"

कुसुम ने अटल-भक्ति के स्वर में कहा, परन्तु बीच-बीच में रुकी, बीच-बीच में बात में बँध-सी गई—"आपने आज्ञा की है तो अवश्य कहूँगी। तो भी, मैं अच्छी तरह नहीं कह पाऊँगी, परन्तु आप शायद मन-ही-मन सब कुछ जानते हैं। हे प्रभु ! मैं एक व्यक्ति की देवता के समान भक्ति करती थी, मैं उसकी पूजा करती थी, उस आनन्द से मेरा हृदय परिपूर्ण होगया था। परन्तु, एक दिन रात को स्वप्न में देखा, जैसे वे मेरे हृदय के स्वामी, कहीं जैसे एक वकुल-वन में बैठकर अपने बांये हाथ में मेरे दाहिने हाथ को लेकर मुझसे प्रेम की बातें कर रहे हैं। यह घटना मुझे कुछ भी असम्भव, कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं जान पड़ी। स्वप्न भंग हो गया, तोभी स्वप्न की नींद भंग नहीं हुई। उसके दूसरे दिन जब उन्हें देखा, फिर पहले के समान नहीं

देख पाया। मन में उसी स्वप्न का चित्र उदय होने लगा। भय दूर भाग गया, परन्तु वह चित्र मेरे साथ-ही-साथ रहा। उसी समय से मेरे हृदय की अशान्ति फिर दूर नहीं हुई; मेरा सब कुछ अंधेरा (अन्धकार-पूर्ण) हो गया।"

जिस समय कुसुम आँसू बहा-बहा कर इन बातों को कह रही थी, उस समय मैं अनुभव कर रहा था, सन्यासी ने बलपूर्वक अपने दाहिने पाँव के पंजे से मेरे पत्थर को दबा रक्खा है।

कुसुम की बात समाप्त होने पर सन्यासी बोले—"जिसे स्वप्न में देखा है, उसे क्या कहा जायेगा ?"

कुसुम ने हाथ जोड़ कर कहा—"उसे नहीं बता सकूँगी।"

सन्यासी ने कहा—"तुम्हारे कल्याण के लिए पूछ रहा हूँ, वह कौन है, स्पष्ट करके कहो ?"

कुसुम बलपूर्वक अपने दोनों कोमल हाथों को दबाती हुई हाथ जोड़ कर बोली—"अवश्य ही वह कौन है, बताना ही होगा ?"

सन्यासी ने कहा—"हाँ, बताना ही होगा।"

कुसुम तत्क्षण बोल उठी—"प्रभु, वह तुम हो।"

जैसे ही उसकी अपनी बात अपने ही कानों में जा पहुँची, वैसे ही वह मूर्च्छित होकर मेरी कठोर गोद में गिर पड़ी। सन्यासी पत्थर की मूर्त्ति के समान खड़े रहे।

जिस समय मूर्च्छा टूटने पर कुसुम उठकर बैठी, उस समय सन्यासी ने धीरे-धीरे कहा—"तुमने मेरी सभी बातों का पालन किया है; एक और बात कहूँगा, पालन करनी होगी। मैं आज ही यहाँ से चला जा रहा हूँ; मेरे साथ तुम्हारी भेंट नहीं होगी। तुम्हें मुझ को भूल जाना होगा। बोलो, यह साधना करोगी ?"

कुसुम उठ कर खड़ी हो, सन्यासी के मुख की ओर देखती हुई धीर-स्वर में बोली—"प्रभु, ऐसा ही होगा।"

सन्यासी ने कहा—"तो मैं जा रहा हूँ।"

कुसुम ने और कुछ न कह कर उन्हें प्रणाम किया, उनके पाँव की धूलि माथे पर लगा ली। सन्यासी चले गये।

कुसुम ने कहा—"वे आदेश कर गये हैं, उन्हें भूलना होगा।" कह कर धीरे-धीरे गंगा के पानी में उतर पड़ी।

अब तक का समय उसने इसी जल के किनारे बिताया है, श्रान्ति के समय यह जल यदि हाथ बढ़ा कर उसे गोद में न लेगा, तो और कौन लेगा ? चाँद अस्त हो गया, रात्रि गहरी अँधेरी हो गई। जल का शब्द सुन पाया, और कुछ नहीं समझ सका। अँधेरे में वायु हू-हू करने लगी; बाद में तिलभर भी कुछ देखा न जा सके, यह सोच कर उसने जैसे फूँक मार कर आकाश के तारों को भी बुझा देना चाहा।

मेरी गोद में जो खेला करती थी, वही आज अपना खेल समाप्त कर मेरी गोद में से कहाँ सरक गई; नहीं जान पाया हूँ।

बदली का दिन

★

नित्य ही दिन भर काम रहता है और चारों ओर भीड़भाड़ रहती है । नित्य ही ऐसा लगता है—उस दिन के काम में, उस दिन की बातचीत में, उस दिन की सब बातें दिन की समाप्ति पर एक बारगी समाप्त कर दी जातीं हैं । भीतर ही भीतर कौन सी बात शेष रह गई, उसे समझने का अवसर ही नहीं मिलता ।

आज सबेरे से ही बादलों के झुण्ड से आकाश की छाती भर उठी है । आज भी सामने दिन भर के लिए काम पड़ा है, और चारों ओर भीड़ भाड़ भी है । परन्तु, आज ऐसा प्रतीत होता है कि भीतर जो कुछ है, उस सबको समाप्त नहीं किया जा सकता ।

मनुष्य ने समुद्र को पार किया, पर्वतों को लाँघ डाला, पाताल पुरी में सेंध लगा कर मणि-माणिक्यों को चुरा लाया, परन्तु एक व्यक्ति के हृदय की बात को, दूसरे व्यक्ति को पूर्णतः सौंप देने का काम उससे किसी भी प्रकार नहीं हो सका ।

आज बदली के दिन सबेरे से ही, मेरी वही बन्दिनी-बात मन के भीतर अपने पंख फड़फड़ा कर मर रही है । भीतर का आदमी कह रहा है—'मेरा चिर-संगी वह एक अन्य व्यक्ति कहाँ है, जो मेरे हृदय रूपी श्रावण-मेघ को कंगाल बना कर, उसकी सम्पूर्ण वर्षा को छीन लेता है ?'

आज बदली के दिन सबेरे से ही सुन रहा हूँ— वह भीतरी बात केवल बन्द दरवाजे की साँकल को हिला रही है । सोचता हूँ—

'क्या करूँ ? कौन है, जिसकी पुकार पर, काम-काज की मेंढ़ को लाँघ कर, इसी समय मेरी वाणी स्वर का दीपक हाथ में लेकर संसार से अभिसार करने के लिए निकल पड़े ? कौन है, जिसकी आँखों के एक इशारे से ही मेरी सर्वस्व-त्यागिनी व्यथा, एक ही क्षण में, एक ही आनन्द में गुँथ जाये, एक प्रकाश से जगमगा उठे ? जो मुझ से ठीक स्वर माँग सके, मैं केवल उसी को दे सकता हूँ। वह मेरा सत्यानाशी भिखारी मार्ग के किस मोड़ पर है ?'

मेरे भीतरी-महल की व्यथा ने आज गेरुए-वस्त्र पहन लिये हैं। वह मार्ग पर बाहर निकलना चाहती है, सब कामों से बाहर के मार्ग पर—जो मार्ग तार के इकतारे की भाँति, एक मात्र सरल है, वह किस मन के मनुष्य के चलने पर साथ-साथ बज रहा है ?

* समाप्त *